शाङ्करभाष्योपेतं
सनत्सुजातीयम्

आचार्यकृष्णानन्दसागरः

सनत्सुजातीयम्
SUNATSUJATIYAM

Shri Shivoham Sagar Granthamala's Sixth Puspa-

SANATSUJATIYAM

With the Commentry

Shri Shankaracharya

Published by

Sarvadarshanacharya Shri Krishnanand Sagar

With his own Hindi Commentry

Shrutiranjani

Under direction from

1008 Mahamandaleshvar

Shri Svami Akhandanand Sagar Maharaj

श्रीशिवोऽहंसागरग्रन्थमालाया: षष्ठं पुष्पम्—

भगवत्पाद आद्यश्रीजगद्गुरुशङ्कराचार्य विरचित भाष्योपेतं

सनत्सुजातीयम्

अनन्तश्रीविभूषित १००८ महामण्डलेश्वर–

अखण्डानन्दसागरमहाराजानां

निदेशेन

सर्वदर्शनाचार्य श्रीकृष्णानन्दसागरेण

स्वकृतया

श्रुतिरञ्जनी

हिन्दी व्याख्या सह प्रकाशितम्

Published by :

© **Acharya Krishnanand Sagar**

Shri Madhawanand Ashram

P. O.-Dharmaja, Dist.-Kheda

GUJARAT

First Edition, 1984

Chaukhambha Sanskrit Sansthan

Price Rs. 100/-

Revised Price............

Copies Can be had From

Shri Om prakash Saraf

D. 38/ 135 Bans Phatak

Varanasi-221010

Prieted by :

Deva Vani Press

Maladahia Varanasi. (U. P.)

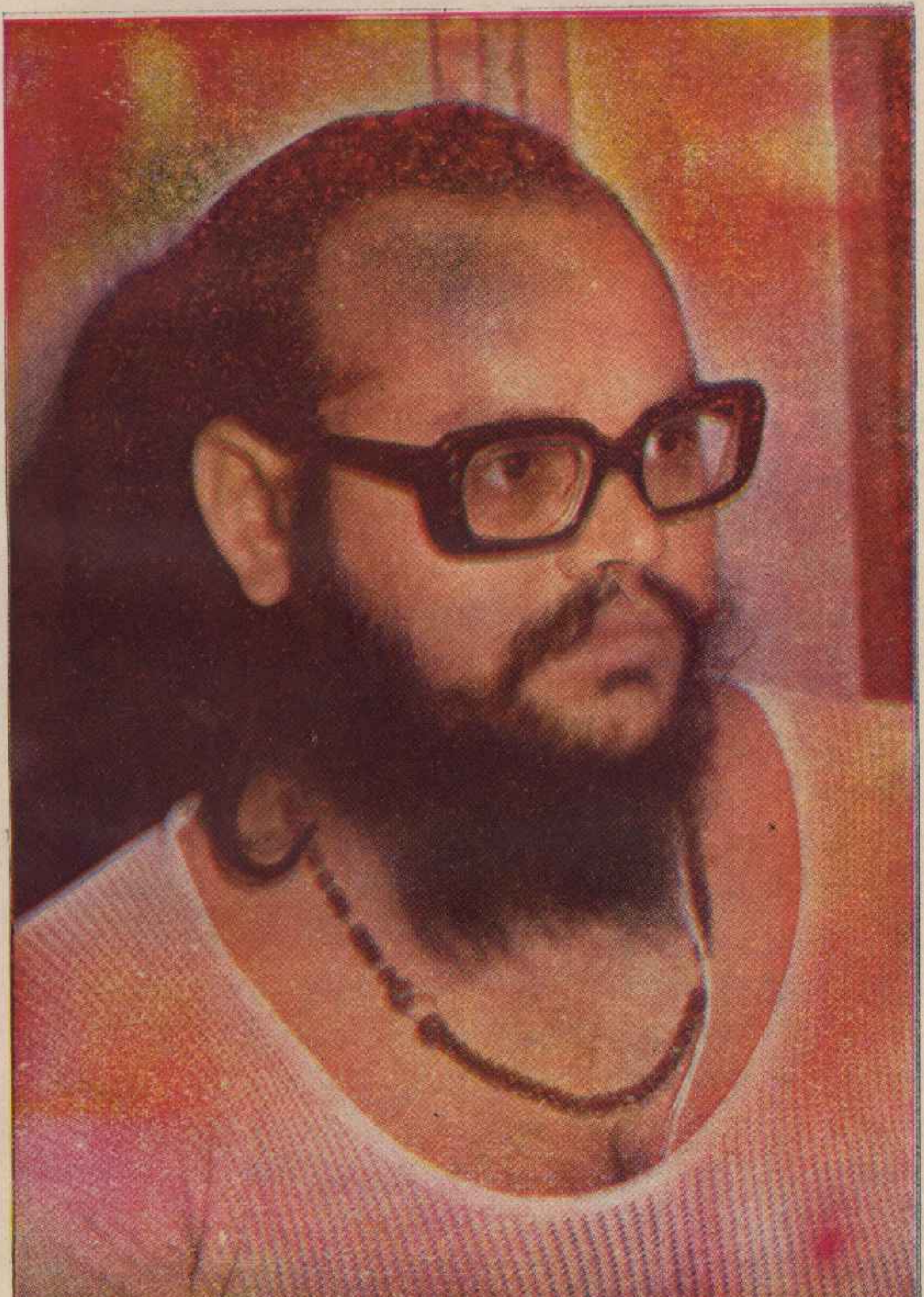

सर्वदर्शनाचार्य श्रीकृष्णानन्द सागर जी महाराज

प्रस्तावना

यह 'सनत्सुजातीयदर्शन' ब्रह्मसूत्र के रचयिता भगवान् श्रीवेदव्यासमुनि द्वारा प्रणीत विशालकायग्रन्थ महाभारत के उद्योगपर्व से उद्धृत है, इस में एकचत्वारिंशत्से लेकर षट्चत्वारिंशत् अध्यायपर्यन्त विशदतया विवेचन किया गया है। वैशम्पायनमुनि और राजा जनमेय इन दोनोंके संवादरूपमें यह सारा-का सारा उपदेशक्रम है। ब्रह्मविद्याका यह उपदेश वेदान्तशास्त्रमें अपना वैशिष्टय रखता है और इस लघुकलेवर ग्रन्थ की महान् महिमा तो भगवत्पाद आद्यजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यके भाष्यसे अवगत होती है जिसका औपनिषद सिद्धान्तमें सर्वोत्कृष्ट स्थान है, महाभारतसे ही उद्धृत 'विष्णुसहस्रनाम' एवं श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंके उपर शाङ्करभाष्य सर्वजनविदित ही है। वस्तुत: शाङ्करभाष्य में पूर्णतया अद्वैततत्त्वका ही विश्लेषण प्राप्त होता है, जिस अद्वैततत्त्वके श्रवण, मनन मवं निदिध्यासन करनेसे मुमुक्षुजन द्वैतप्रपञ्चसे मुक्त हो जाता है और अपने सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मामें समाहित हो जाता है। इस परमतत्त्वका उपदेश ब्रह्माके मानसपुत्र ऋषिकुमार श्रीसनत्सुजातने ग्रहकलहसे आक्रान्त, रागद्वेषसे उद्विग्न, मानसपीडासे पीडित तत्कालीन राजा धृतराष्ट्रके प्रति दिया था और उन श्रीमुखसे श्रवण करने मात्रसे उन्हें आन्तरचक्षु प्राप्त हो गया था; क्योंकि इस तत्त्वज्ञानका स्रोत समाजके किसी भी व्यक्तिको बिना भेदभावके श्रेय एवं स्वस्थ जीवनकी सञ्जोवनी देता है। और शास्त्र तो सदा देश-कालादि की अवधिसे रहित रहता है। 'अपूर्वज्ञापकत्वं शास्त्रत्वम्।' इस युक्तिके अनुसार जिसकी उपयोगिता कालान्तरमें भी एक-सी ही बनी रहे। आजसे पञ्चसहस्रवर्ष पूर्वकालमें जो कनक एवं कान्ताको लेकर सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रोंमें दरार पड़ गयी थी और कुछ पदलोलुप राजनैतिकदलके कारण समाजके वातावरणने संघर्षका स्वरूप धारण कर लिया था और यह प्रमेयपदार्थोंका समुचितरूपसे विश्लेषण एवं विचार-विमर्शकी सत्यदिशा न मिलनेपर हो संघर्षको स्थिति उत्पन्न होती है। जो आज वर्तमानयुगमें भी प्रत्यक्षतया देखी जाती है और पूर्वकालीन इतिहासका भी प्रामाण्य प्राप्त होता है; क्योंकि आसुरी जोवोंमें यह अनादिकालसे संघर्ष चला आ रहा है।

सत्यवतीनन्दन भगवान् श्रीवादरायणने प्रस्तुत ग्रन्थको विषयविवेचनकी

दृष्टिसे चार अध्यायोंमें विभक्त किया है। प्रथम अध्यायमें प्रमाद ही मृत्यु है तथा मृत्युका अभाव, ज्ञान-अज्ञान, कर्मानुष्ठान एवं योगानुष्ठानका अधिकारी, शुभाशुभ कर्म, परमेश्वरका सृष्टिमें प्रयोजन, विद्वानोंका सदाचार, सत्य ब्रह्म और लक्ष्मीका प्रवेश द्वार आदिपर प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय अध्यायमें वेदोंके प्रति आक्षेप, ज्ञानी एवं अज्ञानी व्यक्तिके लिए कर्मका तारतम्य, निष्पाप तप, तपश्चर्याके विविधगुणगरिमा तथा त्याग एवं भयके प्रकार, ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका लक्षण आदि विषयोंका वर्णन है। तृतीय अध्यायमें ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति ब्रह्मचर्यका स्वरूप, ज्ञान द्वारा ब्रह्मस्वरूपमें स्थिति और परम ब्रह्मके स्वरूपका विशदतया विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्यायमें योगियों द्वारा दृश्य ब्रह्मका स्वरूप, परमब्रह्मसे तादात्म्यभाव रखनेवाले ज्ञानियोंकी विमुक्ति आदि विषयका विवेचन किया गया है। कथाका संवाद और महात्मा प्रकृतिवाले कौरवोंके पिता राजा धृतराष्ट्रने भक्तहृदय विदुरके द्वारा प्रेरित उस वचनका भलीप्रकार आदर देकर सर्वोत्तम तत्त्वज्ञानकी इच्छा रखते हुए भगवान् श्रीसनत्सुजातसे प्रश्न किया, जो मैं यह सुनता हूँ कि मृत्यु नहीं है और इस विषयमें आपका उपदेश भी सुन रहा हूँ; यह सत्य है, किन्तु देवता और असुरोंने अमृत्युके लिए दीर्घकालपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रतका भलीभाँति आचरण किया था तथा कुछ लोग कर्मसे अमरत्व मानते हैं और दूसरे लोग मृत्युकी सत्ताको ही स्वीकार नहीं करते हैं इन दोनों पक्षोंमें यथार्थ क्या है ?

इस विषयमें अनेकविध दृष्टिकोण हैं। 'कुर्वन्नवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।' तथा 'कर्मण्येव संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः।' इन श्रुति-स्मृतिरूप वाक्यद्वयके अनुसार नित्य-नैमित्तिक यज्ञानुष्ठान, परोपकार आदि कर्मोंका ब्रह्मार्पणभावसे समर्पण कर अपनेको विमुक्त मानते हैं और कुछ लोग कालत्रयसे मृत्युकी सत्ता नहीं मानते हैं : जबकि अधिकारीके भेदसे उक्त दोनों पक्ष युक्ति सङ्गत हो सकते हैं किन्तु भगवान् श्रीसनत्सुजात द्वारा यह कहा गया है कि प्रमाद ही मृत्यु है और सम्प्रति वर्तमानमें हमें भाष्यकारके वचनोंका भी उल्लेख मिलता है। 'प्रमाद प्रच्युतिः स्वाभाविक ब्रह्मभावात् तं प्रमादं मिथ्याज्ञानस्यापि कारणम्।' असुर लोग प्रमाद से ही शरीरादिमें आत्मबुद्धि कर बैठते थे और ब्रह्मभावसे प्रच्युत हुए, किन्तु अप्रमादसे देवोंने ब्रह्मत्वपद प्राप्त किया था तथा कुछ लौकिकजन प्रमाद-मोह आदिसे भिन्न यमराजको ही मृत्यु मानते हैं जो कि पितृलोकका प्रशासन करते हुए प्राणियोंको अपने शुभाशुभकर्मानुसार सुख-दुखात्मक फल देते हैं।

यह मृत्यु मनुष्योंके अहंकाररूपी मुखसे निकलता है और क्रोध, प्रमाद एवं मोहके रूपमें परिणत हो जाता है। इसलिए अहंकारके वशीभूत हुआ यह देहाभिमानी प्राणी विपरीत मार्गका अनुगामी हो जाता है जिससे वह किञ्चित् भी परमार्थ सम्बन्धी योगको प्राप्त नहीं कर सकता है।

इस प्रकार उक्त अहंकारसे कामके क्षणिक रमणोय वस्तुओंमें आसक्तबुद्धि करता हुआ पामर प्राणी उन्हीं वस्तुओंकी प्राप्तिमें अहारोत्र आजीवन भ्रमरवत् यह इतस्ततः दौड़ता रहता है और प्रकृविजन्य गुण प्रवाहके थपेडोंको झेलता हुआ जन्म-मृत्युरूपी भँवरमें डूब जाता है।

यद्यपि यह आत्मबन्धन कल्पित शृंखला से बँधा हुआ है तो भो यज्ञादि कर्मोंसे उसका छूटकारा असम्भव ही है; इसलिए कि कर्मोंका प्रारम्भ फलकी इच्छाको लेकर हुआ करता है और उससे उत्पन्न हुआ सुखादिरूप फल अनित्य-अस्थिर होता है। 'यथेह कर्म चितो लोकः क्षीयते तथैवामुत्र कर्मचितो लोकः क्षीयते।' अर्थात् शरीरादि अवयवोंसे निर्मित घटादिपदार्थ कालान्तरमें भी विनष्ट होता हुआ देखा जाता है वैसे कर्म द्वारा सम्पादित स्वर्गादिलोक भी विनष्ट हो जाता है। अत एव कर्मजनित फलमें आसक्ति रहनेसे जन्म-मृत्युरूपी वैतरणीसे पार होना अत्यन्त कठिन ही है। जैसा कि कैवल्योपनिषद् में कहा गया है कि 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः। अर्थात् कर्मसे, सन्ततिसे एवं धनसे आत्मस्थिति प्राप्त नहीं हो सकती है किन्तु उक्त सभी वस्तुओंसे अपने मानसको दूर रखते हुए आत्मभावमें समाहित रहनेपर ही सम्भव है। 'कामानुसारी पुरुषः कामाननुविनश्यति।' इस ग्रन्थोक्त युक्तिसे यही सिद्ध होता है कि कामका अनुगामी प्राणी कामनाओंके पीछे अपने आपको विनष्ट कर देता है। और यह एक मोहमात्र हो है जिससे वह अपवित्र में पवित्र बुद्धि अनित्यमें नित्य बुद्धि, अशुद्धमें शुद्ध बुद्धि कर बैठा है। तथा च

'पाषाणखण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः कान्तेतिधीः शोणितमांसपिण्डे।
पञ्चात्मके वर्ष्मणि चात्मभावो जयत्यसौ काञ्चनमोहलीला॥'

पत्थरके टुकड़ेमें रत्नबुद्धि, अस्थिमांसादिसे संयुक्त कामिनीके कमनीय कलेवरमें रमणीय बुद्धि और पञ्चभौतिक क्षणभङ्गुर शरीरमें आत्मबुद्धि करना यह सब मोह ही है।

यद्यपि विषयी जीवोंका ऐसा स्वभाव है, तो भी कोई धीर बुद्धिमान् विवेकीजन ही नदीको उसके प्रवाहके विमुख दिशामें प्रवृत कर देनेके

समान इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे निवृत्त कर अपने आत्मस्वरूपका दर्शन करता है।

यदि सांसारिक वस्तुओंमें थोड़ी-सी भी विवेकदृष्टिसे देखता है, तो बन्धनका कारण रागका उन्मूलन होजाय। नचिकेताने धर्मराजसे कहा था कि 'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। तथा अपि सर्वं जीवितमल्पमेव।' इसप्रकार भौतिकवस्तुओंमें आसक्तिका होना दुःखरूप ही है। यदि यह विवेक रखें, तो पतङ्गकी भाँति अनित्य वस्तुओंमें विनष्ट होनेसे अपनेको बचा सकता है जैसा कि पञ्चदशोकारने कहा है—

'अन्तर्महारोवतीं विजानन् को नाम वेश्यामपि रूपिणीं व्रजेत्।'

विश्व सुन्दरी वेश्याके शरीरमें किसी गुप्त राजरोगको जान करके उसका स्पर्श करना भी अङ्गीकार नहीं करेगा।

जैसा कि कठश्रुतिमें कहा है—'अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विव न पार्थयन्ते। तथा च गीतोक्त वाक्यका भी प्रमाण मिलता है—

'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

अर्थात् जो व्यक्ति शरीरके विनष्ट होनेसे पूर्व काम एवं क्रोधसे उत्पन्न हुए वेगको सहन कर लेता है वही मानव इस संसारमें योगी है और वही सुखी भी है।

परीक्षार्थी छात्र एवं वेदान्त सम्प्रदायके पाठकवर्गके लिए हिन्दीभाषामें शाङ्करभाष्यके साथ यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं था इसी कारण प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन भगवान् भाष्यकारकी कृपासे सुलभ हो सका है।

कृष्णानन्दसागरः

श्लोकानुक्रम

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषोऽन्तरात्मा	१३-१५९	आपोऽथाद्भ्य: सलिल	५-१४९
अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषोऽन्तरात्मा	२०-१६८	आभाति शुक्लमिव	१९-१४१
अदर्शने तिष्ठति रूपमस्य	२५-१६९	इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो	३४-११३
अभिध्या वै प्रथमं हन्ति	१०- ३४	इमं य: सर्वभूतेषु	२६-१७०
अभिजानामि ब्राह्मण	४५-१२२	उभे सत्ये क्षत्रियाद्यप्रवृत्ते	४- ७
अमन्यमान: क्षत्रिय !	१५- ३८	उभौ लोकौ विद्यया	१७-१६३
अश्रान्त: स्यादनादाता	३४- ७८	उभौ च देवौ पृथिवीं	२३- ६८
अनाढ्या मानुषे वित्ते	३६- ७९	ऋचो यजुंष्यधीते	३- ८९
अधमे विदुषो मूढा	४०- ८२	एकैकमेते राजेन्द्र	१७-१०२
अणोरणोयान् सुमना:	३१-१७३	एकवेदस्य चाज्ञानाद्	३७ ११५
अन्तवन्त: क्षत्रिय ते	१८-१४०	एकं पादं नोत्क्षिपति	१२-१५८
अपानं गिरति प्राण:	४-१५७	एतेन ब्रह्मचर्येण	१५-१३८
अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं	१०- ९७	एवं दोषा दमस्योक्ता	२९-१११
अस्मिँल्लोके विजयन्तीह	६-१३२	एवं मृत्युं जायमानं	१६- ३९
अवारणीयं तमस: परस्तात्	२२-१४४	एवं ह्यविद्वानुपयाति	१८- ४१
अर्हते याचमानाय	२६-१०८	कथं समृद्धमत्यर्थं	११- ९८
अहमेवास्मि वो माता	२८-१७१	कर्मोदये कर्मफलानुरागा	९- ३१
असाधना वापि ससाधना	१६-१६२	कस्यैव मौन: कतरन्नु	१- ८७
असिद्धि: पापकृत्यं च	२३-१०६	कल्मषं तपसो ब्रूहि	१४-१००
आकाङ्क्षार्थस्य संयोगाद्	१७-१३९	कामानुसारी पुरुष:	१३- ३६
आख्यानपञ्चमैर्वेदै:	३५-११४	कामत्यागश्च राजेन्द्र	२७-१०८
आचार्ययोनिमिह ये	५-१३२	कालेन पाद लभते	१३-१३७
आचार्येणात्मकृतं	११-१३६	कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं	१९- ४४
आचार्यांय प्रियं कुर्यात्	१२-१३७	को ह्येवमन्तरात्मानं	३२- ७५
आत्मैव स्थानं मम	३०-१७२	क्रोध: कामौ लोभमोहौ	१६-१०१
आद्यां विद्यां वदसि	३-१३०	क्रोधादय द्वादश	१५-१००
गत्वोभयं कर्मणा भुष्यते	२४- ६५	नास्य पर्येषणं गच्छेत्	४६-१२३
गूहन्ति सर्पा इव	१४-१६०	नित्यमज्ञातचर्या मे	३१- ७३

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
चक्रे रथस्य तिष्ठन्तं	६-१५१	निवृत्तेनैव दोषेण	३१-११२
छन्दांसि नाम द्विपदां	४१-११८	निष्कलं तपस्त्वेतत्	१२- ९९
ततो राज धृतराष्ट्र	१- ४	नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन	८-१३०
तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां	१०- ३२	नैनं सामान्यृचो	४- ८९
तदर्थमुक्तं तप	८- ९६	नैर्वक्षु तन्न यजुःषु	२२ १४३
तदर्धमासं पिबति	९-११५	प्रत्यक्षदर्शी लोकानां	५०-१२७
तदेवदह्ना संस्थितं भाति	२४-१४४	प्रमादाद्वा असुराः	५- ९
तपोमूलमिदं सर्वं	१३- ९९	पितामहोऽस्मि स्थविरः	२९-१७१
तस्य सम्यक् सदाचार	२७- ६९	पूर्णात् पूर्णमुद्धरन्ति	३-१४७
तस्मात् सदा सत्कृतः	१९-१६५	ब्रह्मचर्येण या विद्या	४-१३१
तस्माच्च वायुरायातः	२१-१६७	मौनाद्धि मुनिर्भवति	४८ १२५
तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं	२३- ६३	यत्तच्छुक्रं महज्ज्योतिः	१-१४६
तस्यैव नामादि	७- ९४	यत्र मन्येत भूयिष्ठः	२८-१२५
ते मोहितास्तद्वशे	८- ३०	यत्राकथयमानस्य	२९ -७०
तूष्णीभूत उपासीत	४७-१२५	यथा नित्यं गुरौ	१०-१३६
दमोऽष्टादशदोषः	२१-१०६	यथाऽऽकाशेऽवकाशोऽस्ति	४-१४९
द्वाराणि सम्यक् प्रवदन्ति	४३- ८५	यथोदपाने महति	२७-१७०
द्वादश पूत्राः सरितो	८-१५४	यदोऽष्टादशदोषः	२४-१०४
द्विवेदाश्चैकवेदाश्च	३६-११४	यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र	३३ ११३
दोषो महानत्र विभेदयोगे	२०- ४५	यमं त्वेके मृत्युमतो	६- ११
दोषैरेतैर्विमुक्तं तु	२२-११२	यमप्रयतमानं तु	३८- ८१
देहोऽप्रकाशो भूतानां	१४- ३७	यस्त्वेतेभ्योऽप्रवसेद्	२०-१०५
न च्छन्दांसि वृजिनात्	५- ९०	यस्माद्धर्मानाचरन्तीह	२२- ६२
न चेद्वेदा वेद विदं	६- ९१	य एतद्वा भगवान्	२१- ६०
न तारकासु न च	२१-१४३	य एनं वेद तत्	३८-१२६
न वेदानां वेदिता	४२-१२०	यानेवाहुरिज्यया	१७- ४१
न वै मानश्च मौनं च	४१- ८३	यामांशभागस्य यथा	४४-१२२
न साहृश्ये तिष्ठति	७-१५२	येषां धर्मं न च स्पर्धा	२६- ६८
नात्मानमात्मस्थमवैति	१५-१६१	येषां धर्मेषु विस्पर्धा	२५-६७
नामाति शुक्लमिव	२०-१४१	ये यथा वान्तमश्नन्ति	२५-७२
योऽन्यथा सन्तमात्मानम्	३३- ७६	सनत्सुजात यमिमां	१-१२९

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
योऽभिध्यान्नु	१२- ३५	संभोगसंविद्द्विषमेधमानो	१८-१०३
यो वेद वेदान् स च	४३-१२१	सर्वार्थान् व्याकरणाद्	४९-१२६
यो वा कथयमानस्य	३०- ७२	सर्वान् स्विष्टकृतो	३७- ८०
शरीरमेतौ कुरुतः	७-१ः३	हिरण्यपर्णमश्वत्थ	१०-१५६
शिष्यवृत्तिक्रमेणैव	९-१३५	ज्ञानं च सत्यं च	१९ १ ४
शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति	२-१-६	ज्ञानेन चात्मानमुपैति	९- ९७
स आवृणोत्यमृतं	८-१३४	ज्ञानादयो द्वादश यस्य	१४-१३७
सत्यं ध्यानं समाधानं	२८-१०९	ज्ञानादिषु स्थितो	५१-१२८
सत्यात्मा भव राजेन्द्र	३०-१११	श्रीर्हि मानार्थसंवासात्	४२- ८४
सत्यात् प्रच्यवमानानां	३९-११७	श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः	२५-१०८
सनत्सुजात यदिदं	२ ५		

ॐ श्रीसच्चिदानन्दाय नमः

श्रीशाङ्करभाष्योपेतं

श्रीसनत्सुजातीयम्

प्रथमोऽध्यायः

नमः पुंसे पुराणाय पूर्णानन्दाय विष्णवे ।
निरस्तनिखिलध्वान्ततेजसे विश्वहेतवे ॥
ॐ नम आचार्येभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यः ॥

सनत्सुजातीयविवरणं संक्षेपतो ब्रह्मजिज्ञासूनां सुखावबोधायारभ्यते ।

स्वतश्चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मस्वरूपोऽप्यात्मा स्वाश्रयया स्वविषयया-विद्यया स्वानुभवगम्यया साभासया स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्म-भावात् प्रच्युतोऽनात्मनि देहादावात्माभावमापन्नोऽप्राप्ताशेषपुरुषार्थः प्राप्ताशेषा-नर्थोऽविद्याकर्मपरिकल्पितैरेव साधनैरिष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहृतिं चाकाङ्क्षन्,

आचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरविरचिता हिन्दीव्याख्या

श्रुतिरञ्जनी

प्राणियोंके समस्त अज्ञान अन्धकारको दूर करनेवाले प्रकाशात्मा, पुराण पुरुष, परिपूर्ण आनन्दघन विश्वके हेतु भगवान् श्रीविष्णुके प्रति हम नमस्कार करते हैं ।

ॐ ब्रह्मविद्या सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्यपुरुषोंके प्रति हम नमस्कार करते हैं ।

ब्रह्मतत्त्वके जिज्ञासुजनोंको सरलतापूर्वक प्रबोध करानेके लिए संक्षेपतः सनत्सुजातीय विवरणका प्रारम्भ किया जाता है ।

स्वयं प्रकाशात्मक सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मात्मस्वरूप होता हुआ भी यह आत्मा स्वाश्रय, अपनेको विषय करनेवाली स्वकीय अनुभवगम्य और चिदाभाससे युक्त अविद्याके द्वारा स्वाभाविक सत् चित् आनन्दघन अद्वितीय ब्रह्मात्मस्वरूपसे प्रच्युत होकर शरीरेन्द्रियादि अनित्य जड वस्तुओंमें आत्मभाव को प्राप्त होकर समग्र मोक्षरूप परमपुरुषार्थसे रहित समस्त अनर्थताको प्राप्त

लौकिकवैदिकसाधनैरनुष्ठितैरपि परमपुरुषार्थं मोक्षाख्यमलभमानो मकरादिभिरिव रागद्वेषादिभिरितस्तत आकृष्यमाणः सुरनरतिर्यगादिप्रभेदभिन्नासु नाना योनिषु परिवर्त्तमानो मोमुह्यमानः संसरन् कथंचित्पुण्यवशाद्वेदोदितेनेश्वरार्थकर्मानुष्ठानेनापगतरागादिमलोऽनित्यादिदोषदर्शनेनोत्पन्नेहामुत्रफलभोगविरागो वेदान्तेभ्यः प्रतीयमानं ब्रह्मात्मभावं बुभुत्सुर्वेदोदितशमदमादिसाधनसम्पन्नो ब्रह्मविदमाचार्यमुपेत्य आचार्यानुसारेण वेदान्तश्रवणादिना 'अहं ब्रह्मास्मि' इति ब्रह्मात्मतत्त्वमवगम्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्यो ब्रह्मरूपोऽवतिष्ठत इतीयं वेदान्तानां मर्यादा। एतत्सर्वं क्रमेण दर्शयिष्यति भगवान् सनत्सुजातः।

धृतराष्ट्रः शोकमोहाभितप्तः 'तरति शोकमात्मवित्' इति वेदान्तवादमुपश्रुत्य ब्रह्मविद्यया विना शोकापनयनमशक्यं मन्वानः—

अनुक्तं यदि ते किंचिद्वाचा विदुर विद्यते।
तन्मे शुश्रूषवे ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे॥

हो गया है। अविद्या द्वारा उत्पन्न हुए कर्मोंसे परिकल्पित साधन-समूहसे इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिकी आकांक्षा रखता हुआ लौकिक एवं वैदिक परम्परासे प्राप्त साधन-समूह द्वारा अनुष्ठान करनेपर भी मोक्षनामक परम पुरुषार्थको प्राप्त न करनेसे मकरादिकी भाँति रागद्वेषादिसे युक्त होकर इतस्ततः सांसारिक प्रवृत्तियोंमें खींचा जाता हुआ देव, मनुष्य और तिर्यगादि विभिन्न-भेदवाले अनेकविध योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ मोह-जालमें बँधा वह जन्म-मृत्युरूप संसरण भावको प्राप्त करता है। किसी प्रकार पूर्वजन्म सम्पादित पुण्यवशात् वेदोक्त मार्गसे परमेश्वरके प्रति किये हुए कर्मोंके अनुष्ठानसे रागद्वेषादिरूप मलकी निवृत्ति हो जानेपर अनित्य वस्तुओंमें दोषदर्शन करनेसे लौकिक और पारलौकिक कर्मजनित फलभोगोंसे उपराम होकर, वेदान्त-वाक्योंसे प्रतीयमान होकर। ब्रह्मात्मभावका जिज्ञासु पुरुष वेदशास्त्र प्रतिपादित शम दमादि साधन-समूहसे युक्त होकर तत्ववेत्ता आचार्यके निकट जाकर आचार्यकी आज्ञानुसार वेदान्त-श्रवणादिसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा हृदयमें ब्रह्मात्मतत्त्वका बोध ग्रहणकर अज्ञान और उसके कार्यसे निवृत्त होकर ब्रह्मभावमें अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार भी यह वेदान्त-शास्त्रोंकी मर्यादा है। भगवान् सनत्सुजात यही सब विषय क्रमशः प्रस्तुत करेंगे—

शोक एवं मोहसे (आन्तरबाह्य सब प्रकारसे) संतप्त हुए धृतराष्ट्रने आत्मवेत्ता पुरुष ही शोक सागरसे पार हो जाता है। इस वेदान्त-सिद्धान्त का श्रवणकर ब्रह्मविद्याके बिना शोकका दूर होना सर्वथा अशक्य है ऐसा

इति विदुरायोक्तवान्।

स च श्रुतवाक्योऽपि परमकारुणिकः सर्वज्ञः सन् ब्रह्मविद्यां विशिष्टाधिकारिविषयां मन्वानः—'शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे' इति शूद्रयोनिजत्वादौपनिषदब्रह्मात्मतत्त्वज्ञाने 'नाहमधिकृतः' इत्युक्त्वा कथमेनं धृतराष्ट्रं ब्रह्मविद्यया परमे पदे परमात्मनि पूर्णानन्दे स्वाराज्ये स्थापयिष्यामीति मन्वानः छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धमितिहासं स्मृत्वा नान्योऽस्मादस्मै भूमानं तमसः परं पारं परमात्मानं दर्शयितुं शक्नुयादिति मत्वा तमेव भगवन्तं सनत्सुजातं योगबलेनाहूय प्रत्युत्थानादिभिर्भगवन्तं पूजयित्वा—

भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसे।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि॥
यं श्रुत्वायं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत्।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ तथैव च जरान्तकौ॥
विषहेतु मदोन्मादौ क्षुत्पिपासे भयाभये।
अरतिं चैव तन्द्रां च कामक्रोधौ क्षयोदयौ॥

समझते हुए कहा कि हे विदुर! यदि तुम्हारी वाणीमें कहीं कुछ अवशिष्ट विषयांश रह गया हो तो उसको श्रवण करनेके इच्छुक मेरे प्रति कहो; क्योंकि इस समय तुम्हारे मुखसे विलक्षण वाक्य निकल रहा है। यद्यपि तत्त्ववेत्ता विदुरने औपनिषद-वाक्योंका यथावत् श्रवण कर लिया था, तथापि यह परम कारुणिक सर्वज्ञ होनेपर भी विशेष अधिकारी पुरुषसे ब्रह्मविद्या-सम्बन्ध रखती है ऐसा मानते हुए 'मैंने शूद्र योनिमें जन्म लिया है, इसलिए दूसरा कुछ भी कहनेका साहस नहीं हो रहा है। इस प्रकार शूद्र योनिमें जन्म ग्रहण करनेके कारण औपनिषद सिद्धान्तके अनुरूप ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानके उपदेश देनेका अधिकारी नहीं हूँ, इस प्रकार कहकर मनमें यह विचार करते हुए कि कैसे मैं इन धृतराष्ट्रको ब्रह्मविद्याके माध्यमसे परिपूर्णानन्द, परमात्ममय, परमपदरूप स्वराज्यपर प्रतिष्ठापित करूँ और छान्दोग्य उपनिषद्का अष्टम अध्यायके इतिहासका हृदयमें स्मरण करके यह विचार किया कि इनके लिए अज्ञान अन्धकारसे रहित भूमास्वरूप परमब्रह्म परमात्माका दर्शन करानेमें अभी कोई भी सक्षम नहीं है इसलिए उन भगवान् सनत्सुजातका योगबलसे आवाहनकर भली-भाँति प्रत्युत्थानादिसे पूजन किया और कहा कि भगवन्! धृतराष्ट्रके मानसमें कुछ संशय है मुझसे जिसका समाधान हल नहीं हो रहा है। आप ही इनके लिए कुछ शब्द कहनेमें समर्थ हैं। जिस तत्त्वको श्रवणकर महाराजा

इति। भगवन् ! येनासौ सकलसंसारकारणधर्माधर्मविवर्जितः सुखदुःखातिगो मुक्तो भवेत् तमस्मै धृतराष्ट्राय वक्तुमर्हसीत्युक्तवान् ।

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत् ।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन् ॥ १ ॥

तत एतद्वाक्यसमनन्तरं विदुरेण सनत्सुजातं प्रति ईरितम् उक्तं यद् वाक्यं तत् सम्पूज्य-सम्मान्य, सनत्सुजातं सनदिति सनातनं ब्रह्मोच्यते, हिरण्यगर्भाख्यम् । तस्मात्सनातनाद् ब्रह्मणो मानसाद् ज्ञानवैराग्यादिसमन्वितः सुष्ठु जात इति सनत्सुजातः—इत्युक्तो भगवान् सनत्कुमारः, तं रहिते रहसि प्राकृतजनवर्जिते देशे महात्मा महाबुद्धिः प्रपच्छ पृष्टवान् बुद्धि परमामुत्तमां पूर्णानन्दाद्वितीयविषयाम् । किमर्थम् ? बुभूषन् भवितुमिच्छन्, ब्रह्मात्मविद्ययापहृतमात्मानं लब्धुमिच्छन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

धृतराष्ट समग्र दुःखद्वन्द्वोंसे विमुक्त हो जायें । लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मरण, मद-उन्माद, क्षुधा-पिपासा, भय-अभय और अरुचि, तन्द्रा, काम, क्रोध एवं उन्नत्ति, अवनति आदि धर्मोंमें समभावको धारण कर सकें । हे भगवन् ! जिससे यह सकल संसारके कारणरूप धर्म-अधर्मसे शून्य होकर सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंका अतिक्रमणकर विमुक्त हो जाय, आप उस तत्त्वज्ञानको इन महाराजा धृतराष्ट्रके लिए वर्णन कीजिये ।

वैशम्पायन मुनिने जन्मेजयके प्रति कहा कि—इसके अनन्तर निर्मल बुद्धिमान् महात्मा राजा धृतराष्ट्रको विदुर द्वारा कथित वाक्यका आदर करके ब्रह्मतत्त्वको जाननेकी इच्छा करते हुए एकान्त प्रदेशमें भगवान् सनत्सुजातसे प्रश्न किया ॥ १ ॥

इसके अनन्तर जो विदुर द्वारा भगवान् श्रीसनत्सुजातके प्रति वाक्य कहा गया था उसका सम्मान करके सनत् अर्थात् सनातन ब्रह्मको कहा जाता है जो हिरण्यगर्भके नामसे प्रसिद्ध है । उस सनातन परम ब्रह्मके मानससे ज्ञान वैराग्यादिसे युक्त भलीभाँति उत्पन्न होनेके कारण भगवान् सनत्कुमारको ही सनत्सुजात कहा गया है । एकान्तमें-प्राकृतजनसे रहित प्रदेश विशेषमें महात्मा महान् बुद्धिशाली महाराजा धृतराष्ट्रने अत्युत्तमा परिपूर्णानन्दमय अद्वितीय ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेंवाली बुद्धिके विषयमें पूछा । किस निमित्तको लेकर ? बुभूषन्-ब्रह्मरूप होनेकी इच्छा रखते हुए अर्थात् अनादि अविद्याजनित अज्ञानसे

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यदिदं शृणोमि मृत्युर्हि नास्तीति तवोपदेशम् ।
देवासुरा आचरन् ब्रह्मचर्यममृत्यवे तत्कतरन्नु सत्यम् ॥ २ ॥

तदेवाह—

हे सनत्सुजात ! यन्मृत्युर्हि नास्तीति शिष्यान् प्रति उपदिष्टमिति विदुरः देवासुराः पुनरमृत्यवे मृत्योरभावाय अमृतत्वप्राप्तये ब्रह्मचर्यमाचरन्तः—इन्द्रविरोचनादयो गुरौ वासं कृतवन्तः । श्रूयते च छान्दोग्ये—'तद्धोभये देवा असुरा अनुबुबुधिरे' इत्याद्यारभ्य 'तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः' इत्यन्तेनेन्द्रविरोचनयोः प्रजापतौ ब्रह्मचर्यचरणम् । 'एकाशतं ह वै वर्षाणि मघवा प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास' इति च ।

यदि मृत्युर्नास्तीति तव पक्षः, तर्हि कथं देवासुराणाममृत्यवे ब्रह्मचर्यचरणम् ? तत् तयोर्मृत्युसद्भावासद्भावपक्षयोः कतरन्नु सत्यम् ? यत्सत्यं तद्वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

अपहृत आत्मस्वरूपको ब्रह्मात्मतत्त्व बोध द्वारा उपलब्ध करनेकी इच्छा करते हुए प्रश्न किया ॥ १ ॥

उसीका विवेचन किया जा रहा है—

धृतराष्ट्र बोले—हे सनत्सुजात ? जो मैं आपके उपदेशसे यह सुन रहा हूँ कि मृत्यु नहीं है । देवता एवं दानवोंने अमृततत्त्वकी प्राप्तिके लिए ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण किया ? इन दोनों पक्षोंमें सत्य क्या है ॥ २ ॥

हे सनत्सुजात ! उस समय आपने अपने शिष्योंकों उपदेश देते हुए यह कहा था कि मृत्यु नहीं है, वह मेरे प्रति विदुरने कहा है । तब फिर देवता और असुरोंने मृत्युके अभाव अर्थात् अमृततत्त्वकी प्राप्तिके लिए ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण किया था । इसलिए इन्द्र ओर विरोचनादिकोंने गुरुके गृहमें निवास किया था । और छान्दोग्योपनिषद्में सुना भी जाता है कि इसका देव और दानव दोनोंने समझा । इससे आरम्भकर वे बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थिर रहे इस प्रकार यहाँ तक इन्द्र और विरोचनका प्रजापतिके स्थानमें ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना कहा गया है । तथा इन्द्रने प्रजापति ब्रह्माके स्थानमें एक सौ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए निवास किया । इससे केवल इन्द्रका रहना द्योतित हो रहा है । मृत्यु नामक कोई वस्तु नहीं है यदि ऐसा आपका मत है तो देवता और दानवोंने अमृततत्त्वकी प्राप्तिके लिए ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण क्यों

श्रीसनत्सुजात उवाच

अमृत्युः कर्मणा केचिन्मृत्युर्नास्तीति चापरे।
शृणु मे ब्रुवतो राजन्यथैतन्मा विशङ्किथाः ॥ ३ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—केचित्पुनरविद्याधिरूढाः परमार्थतो मृत्युसद्भावं मन्यमाना वेदोक्तेन कर्मणा अमृत्युः—अमृतत्वं भवतीति मत्वा अमृत्यवे--अमृतत्वप्राप्तये वेदोक्तं कर्माचरन्ति।

तथान्ये विषयविषान्धा विषयव्यतिरेकेण निर्विषयं मोक्षममन्यमानाः कर्मणैवामृत्युः—अमृतत्वं देवादिभावं वर्णयन्ति। तत्रैव च रागिगीतं श्लोकमुदाहरन्ति—

अपि वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं स इच्छतु।
न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ॥ इति ॥

तथैव च परमात्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो ज्ञानकर्मभ्याममृतत्वं वर्णयन्ति।

अपरे पुनरद्वितीयात्मदर्शिन आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो मृत्यु-

किया? इसलिए मृत्युके होने और न होने इन दोनों पक्षोंमें से कौन-सा पक्ष सत्य यथार्थ है? आशय यह है कि इन दोनोंमें जो सत्य हो, उसीका मेरे प्रति उपदेश कीजिए ॥ २ ॥

हे राजन्! कुछ लोग कार्यसे मृत्युका न होना स्वीकार करते हैं, दूसरे लोगोंका कथन यह है कि मृत्यु नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। यह बात जैसी है वह मुझ वक्ताके द्वारा यथार्थरूपसे श्रवण करो, इस विषयमें शंका नहीं करना ॥ ३ ॥

इस प्रकार प्रश्न करनेपर भगवान् सनत्सुजात कहते हैं कि कुछ लोग अविद्यासे मोहित हुए वस्तुतः मृत्युका होना स्वीकार करते हैं और वेदोक्त कर्म द्वारा मृत्युका न होना मानते हैं अर्थात् वेदशास्त्र प्रतिपादित कर्मानुष्ठानसे अमृततत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है इसलिए वे लोग वेदोक्त कर्मका आचरण करते हैं।

तथा अन्य कुछ लोग जो विषयवासनारूप विषसे अन्धे हुए उससे व्यतिरिक्त कोई निर्विषयक मोक्ष नहीं है इसलिए कर्मानुष्ठानके द्वारा मृत्यका न होना ही अमरत्व अर्थात् देवादिभावकी प्राप्तिमें वर्णन करते हैं। इस विषयमें किसी अनुरागी व्यक्तिके गीतका श्लोक द्वारा उदाहरण देते हैं—

र्नास्तीति वर्णयन्ति। हे राजन्! यथैतत्पक्षयोरविरोधः सम्भवति तथा ब्रुवतो मे मम वाक्यं शृणु मा विशङ्किथाः, मयोक्तेऽर्थे शङ्कां मा कृथाः ॥ ३ ॥

कथम्?—

उभे सत्ये क्षत्रियाद्यप्रवृत्ते मोहो मृत्युः सम्मतो यः कवीनाम्।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि सदाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥ ४ ॥

ये पूर्वोक्ते मृत्योरस्तित्वनास्तित्वे ते उभे हे क्षत्रिय! आद्यप्रवृत्ते य आदिसर्गस्तमारभ्य प्रवृत्ते। अथवा क्षत्रियाद्य क्षत्रियप्रधान, प्रवृत्ते वर्तमाने। कथं पुनरुभयोः परस्परविरुद्धयोरस्तित्वनास्तित्वयोः सत्यत्वमिति? तत्राह— मोहो मृत्युः सम्मतो यः कवीनामिति। भवेदयं विरोधोऽस्तित्वनास्तित्वयोः, यदि परमार्थरूपो मृत्युः स्यात्।

हे गौतम! वृन्दावनके सुरम्य प्रदेशमें भी शृगाल बननेकी इच्छा कर लूँगा। किन्तु निर्विषयक मोक्षकी इच्छा किसी भी स्थितिमें नहीं कर सकता। और इसी प्रकार परमब्रह्म परमात्मासे व्यतिरिक्त किसी द्वितीय वस्तुको न देखनेवाले अर्थात् अभेदात्मभावमें रहनेवाले कुछ लोग तो ज्ञानके द्वारा अमृतत्व का विवेचन करते हैं। दूसरे लोग जो अद्वितीय आत्मस्वरूपको देखनेवाले अपने आत्मस्वरूपसे भिन्न किसी अन्य वस्तुकी सत्ताको नहीं देखते हैं इसलिए मृत्यु नहीं है ऐसा वर्णन करते हैं। हे राजन्! इन पक्षोंका जैसे परस्पर विरोध सम्भव है वैसे मुझ वक्ताका वाक्य सुनो, शंका मत करो, मेरे द्वारा कहे हुए अर्थमें किसी भी प्रकारका सन्देह मत करना ॥ ३ ॥

हे क्षत्रिय! सृष्टिकालसे आरम्भकर अद्यपर्यन्त ये दोनों ही बातें तथ्यपूर्ण है और विद्वज्जनोंकी सम्मति भी है कि जो मोह है वही मृत्यु है, किन्तु मैं तो प्रमादको मृत्यु कहता हूँ और सदा अप्रमादको अमृतत्व कहता हूँ ॥ ४ ॥

हे क्षत्रिय! जो पूर्वोक्त ये मृत्युकी सत्ता और मृत्युकी सत्ताका अभाव हैं, वे दोनों ही आद्य प्रवृत्त अर्थात् जो आदिसर्गसे आरम्भकर चला आ रहा है अथवा क्षत्रियाद्यका तात्पर्य यह है कि क्षत्रिय प्रधान और 'प्रवृत्ते' इस पदका वर्तमानकाल पर्यन्त है। तब फिर परस्पर विरुद्ध धर्मोंसे युक्त मृत्युकी सत्ता और मृत्युकी सत्ताका अभाव इन दोनोंकी यथार्थता कैसे सिद्ध हो सकेगी? इस विषयमें विद्वज्जनोंका यह मत है कि मोह ही मृत्यु है और यह मृत्युका अस्तित्व एवं अस्तित्वका अभाव परस्पर विरोध उस स्थितिमें सम्भव हो सकता है जो कि मृत्यु परमार्थरूप हो, अन्यथा उन दोनोंमें विरोधका होना सम्भव नहीं है।

कस्तर्हि मृत्युः ? यो मोहो मिथ्याज्ञानम्, अनात्मनि आत्माभिमानः स मृत्युः केषांचित् कवीनां मतः। अहं तु न तथा मृत्युं ब्रवीमि। कथं तर्हि ? प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि प्रमादः प्रच्युतिः स्वाभाविकब्रह्मभावात्। तं प्रमादं मिथ्याज्ञानस्यापि कारणम् आत्मानवधारणमात्माज्ञानं मृत्युं जननमरणादिसर्वानर्थबीजम् अहं ब्रवीमि।

तथा सदाऽप्रमादं स्वाभाविकस्वरूपेणावस्थानम् अमृतत्वं ब्रवीमि। तथा च श्रुतिः स्वरूपावस्थानमेव मोक्षपदं दर्शयति—'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति। तथानुगीतासु स्पष्टमाह—

एको यज्ञो नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।
यस्मिन्निष्ट्वा सर्वमिदं ग्रसित्वा
स्वरूपसंस्थाश्च भवन्ति मर्त्याः॥

यत एवं स्वरूपावस्थानलक्षणो मोक्षः, अत एव चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणत्वादेव न कर्म साध्यममृतत्वम्, नापि समुच्चिताभ्यां ज्ञानकर्मभ्यामिति

तब मृत्यु किस वस्तुका नाम है ? जो मोह-मिथ्या ज्ञान है अर्थात् कुछ विद्वज्जनोंका कहना है कि अनात्म-वस्तुमें आत्मरूपसे अभिमान करना ही मृत्यु है। किन्तु मैं तो मृत्युका स्वरूप उक्त प्रकारसे भिन्न बताता हूँ। तब फिर किस प्रकार ? ठीक, मैं प्रमादको ही मृत्यु कहता हूँ, अपने स्वाभाविक ब्रह्मभावसे प्रच्युत होनेका नाम ही प्रमाद है। उस प्रमादको मिथ्या ज्ञानका भी हेतुभूत आत्माके संशयात्मकस्वरूपको मैं मृत्यु कहता हूँ अर्थात् मैं जन्म-मरणादि समस्त अनर्थके बीजरूप आत्माके अज्ञानको मृत्यु कहता हूँ।

तथा सदा अप्रमाद-अपने स्वाभाविक आत्मस्वरूपमें अवस्थित रहनेका नाम अमृतत्व है। तथा च–'परम ज्योतिकी भली-भाँति प्राप्त होकर अपने ज्ञान-प्रकाश स्वरूपसे सम्पन्न हो जाता है।' इस प्रकार भगवती श्रुति स्वरूप अवस्थानको ही मोक्ष-पदसे प्रदर्शित करती है। तथा अनुगीतामें भी सुस्पष्टतया कहा गया है कि—

एक ही यज्ञ-आत्मा है इससे भिन्न अन्य कुछ भी तो नहीं है जिसका हृदय कमलमें निवास स्थान है। उसीका मैं विवेचन करता हूँ जिसके यजन करनेपर मनुष्य समस्त नाम-रूपात्मक विश्वको अपने स्वरूपमें विलीनकर अपने आपमें अवस्थित हो जाते हैं।'

जबकि इस प्रकार अपने स्वरूपमें अवस्थित होना रूप ही मोक्ष है। इसलिए चतुर्विध अर्थात् काम्य, नित्य, नैमित्तिक एवं निषिद्धरूप, क्रियाजनित

'अमृत्युः कर्मणा केचित्' इत्येतदनुपपन्नमेवेत्युक्तं भवति। वक्ष्यति चास्य पक्षस्य स्वयमेव निराकरणम्—

कर्मोदये कर्मफलानुरागा-
स्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।
ज्ञानेन विद्वांस्तेजोऽभ्येति नित्यं
न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः' ॥इति॥४॥

कथमेतदवगम्यते प्रमादो मृत्युरप्रमादोऽमृतत्वमिति ? तत्राह—

प्रमादाद्वा असुराः पराभवन्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च ।
न वै मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून् नाप्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥ ५ ॥

प्रमादात् स्वाभाविकब्रह्मभावप्रच्यवनाद् अनात्मनि देहादावात्मभावाद् असुरा विरोचनप्रभृतयः पराभवन् पराभूताः। तथा च श्रुतिः—'अनुपलभ्यात्मानम्' इत्यारभ्य 'देवा वा असुरा वा ते पराभविष्यन्ति' इत्यन्तेन। तथाप्रमादात्स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनावस्थानाद् ब्रह्मभूताः सुरा-

फलसे विलक्षण स्वरूप होनेके कारण ही अमृतत्व कर्मसे साध्य नहीं है और ज्ञान एवं कर्मके समुच्चयसे भी अमृतत्व प्राप्त नहीं है। इससे यह कहा जाता है कि कुछ लोग कर्मसे प्राप्य अमृतत्वको मानते हैं यह भी तो युक्तियुक्त सिद्ध नहीं हो रहा है अतः प्रकृत पक्षका स्वयमेव भगवान् निराकरण करेंगे।

कर्मका उदय होनेपर कर्मजनित फलके अनुरागी प्राणी उसीका अनुगमन करते हैं। इसलिए वे लोग मृत्युका अतिक्रमण नहीं कर पाते। किन्तु विवेकी पुरुष तो ज्ञान द्वारा स्वयंप्रकाशरूप आत्माका साक्षात्कार कर लेते हैं; क्योंकि इससे अतिरिक्त उसके लिए दूसरा कोई पथ नहीं है ॥ ४ ॥

परन्तु यह कैसे अवगत होता है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृतत्व है ? इस पर करते हैं—

जबकि असुरोंका पराभव प्रमादसे ही हुआ है और देवोंने अप्रमादसे ही ब्रह्मभाव प्राप्त किया है। इससे अतिरिक्त मृत्यु व्याघ्रकी भाँति प्राणियोंका भक्षण नहीं करती है तथा इसका कोई स्वरूप भी देखनेमें नहीं आता है ॥ ५ ॥

प्रमादसे अर्थात् विरोचन आदि असुरोंने अनात्मवस्तुमें आत्मभाव किया था, इसलिए वे लोग अपने स्वाभाविक ब्रह्मभावसे प्रच्युत हो गये और वे पराभवको प्राप्त हुए थे। एवं 'आत्माको उपलब्ध न करके' यहाँसे लेकर 'वे देवता या असुर पराभवको प्राप्त करेंगे। इस वाक्यपर्यन्त श्रुति द्वारा दिखलाया गया है। अप्रमादसे अर्थात् इन्द्रादि सुरगण अपने स्वाभाविक सच्चिदानन्दघन

श्चेन्द्रादयः। तथा च श्रुतिः—'तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां च सर्वे लोका आप्ताः सर्वे च कामाः' इत्यादिना।

अथवा, असुषु प्राणेषु इन्द्रियेष्वेव रमन्त इत्यसुराः, अनात्मविदो वैषयिकाः प्राणिनोऽसुराः। ते स्वाभाविकब्रह्मभावमतिक्रम्यानात्मनि देहादावात्मभावमापन्नाः पराभावन्, तिर्यगादियोनिमापन्नाः। तथा च बह्वृचब्राह्मणोपनिषत्—'तस्मान्न प्रमाद्येत्तन्नातीयान्न ह्यत्यायन्पूर्वे येऽत्यायंस्ते पराबभूवुः' इत्यारभ्य 'या वै ता इमाः प्रजास्तिस्रोऽत्यायमायंस्तानीमानि वयांसि वङ्गावगधाश्चेरपादाः' इति।

तथा स्वस्मिन्नात्मन्येव रमन्ति इत्यात्मविदः सुराः। तथा चोक्तम्—

आत्मन्येव रतिर्येषां स्वस्मिन् ब्रह्मणि चाचले।
ते सुरा इति विख्याताः सूरयश्च सुरा मताः॥ इति।

अप्रमादात्ते स्वाभाविकब्रह्मात्मनावस्थानाद् ब्रह्मभूताः। निवृत्तमिथ्याज्ञानतत्कार्या ब्रह्मैव संवृत्ता इत्यर्थः।

अद्वितीय ब्रह्मभावमें अवस्थित रहनेके कारण ब्रह्मरूप हो गये हैं। और भी श्रुति कहती है कि देवता उस अथवा इस आत्माकी उपासना करते हैं इसलिए उनलोगोंको समग्र लोक और समग्र कामनाओंकी प्राप्ति हुई है।

अथवा, असु प्राणादि इन्द्रियोंमें रमण करनेवालेको असुर कहा जाता है। अत एव वे अनात्मवित् वैषयिक जीवात्मा असुर है', क्योंकि वे स्वाभाविक ब्रह्मस्वरूपका अतिक्रमणकर देहादिरूप अनात्मपदार्थमें आत्मभाव रखते हैं इसलिए उनका पराभव हुआ और तिर्यगादि योनियोंमें जन्म लेना पड़ा। तथा च 'उस ज्ञानमार्गमें प्रमाद न करें, उसका कभी भी उल्लंघन न करे', क्योंकि उसका उल्लघन किसी भी स्थितिमें नहीं किया जाता है। पूर्वकालमें जिन लोगोंने उस ज्ञानमार्गका उल्लंघन किया था वे सभी पक्षी, वनवृक्ष, औषधियाँ और सर्पादि योनियोंमें जन्म ग्रहण किये हुए थे। इस वाक्य पर्यन्त बह्वृचब्राह्मण उपनिषद्का प्रमाण प्राप्त होता है।

एवं जो अपने आत्मारामभें विलीन रहते हैं वे आत्मवेत्ता सुरगण हैं। इस विषयमें कहा गया है कि—

जिनकी अपने स्वरूपमें दृढतया प्रीति हो गयी है वे सुर कहलाते हैं अत एव सुरि ही सुर शब्दका द्योतक है।

वे लोग अप्रमादरूप अपने स्वाभाविक ब्रह्मभावमें स्थित हो जानेके कारण ब्रह्मरूप हो गये हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्याज्ञान और उसका कार्य जिन विज्ञानी जनोंसे निवृत्त हो चुका है वे निश्चित ही ब्रह्मरूप हो जाते हैं।

'नन्वन्य एव सर्वजन्तूनामुपसंहारको मृत्युः प्रसिद्धः, कथमुच्यते 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इति ? तत्राह—न वै मृत्युरिति। न वै मृत्युर्व्याघ्र इव अत्ति भक्षयति प्राणिनः। यदि भक्षयेत् तर्हि व्याघ्र इवास्य रूपमुपलभ्येत, न चोपलभ्यते तस्मान्नास्त्येव मृत्युः' ॥ ५ ॥

ननूपलभ्यते सावित्र्युपाख्याने—

अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतम्।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥ इति ॥

कथमुच्यते नास्य रूपमुपलभ्यत इति ? तत्राह—

यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहुरात्मावासममृतं ब्रह्मचर्यम्।
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम् ॥६॥

सत्यमुपलभ्यते, तथापि न साक्षान्मृत्युः। कस्तर्हि ? यः प्रमादाख्यो मृत्युरज्ञानं स एव, साक्षाद्विनाशहेतुत्वात्। तथाऽज्ञानस्य विनाशहेतुत्वं श्रूयते—

अच्छा तो, जबकि संसारमें समस्त प्राणियोंका संहारक मृत्यु तो कोई दूसरी ही प्रसिद्ध है, तब फिर यह कैसे कहा जा रहा है कि मैं प्रमादको ही मृत्यु मानता हूँ ? इस पर कहते हैं मृत्यु व्याघ्रकी भाँति जीवोंका भक्षण नहीं करती है यदि भक्षण करती हुई किसीको देखनेमें आती तो निश्चय ही व्याघ्रकी भाँति इसका कोई स्वरूप आकार उपलब्ध होता, अतएव न उसका कोई स्वरूप आकार ही है और न उसकी कोई सत्ता ही प्रतीत होती है ॥ ५ ॥

यह सत्य है, किन्तु सती सावित्रीके आख्यानमें मृत्युका स्वरूप देखनेमें आता है। जैसे यमराजने सत्यवान्के देहमेंसे अपने वशीभूत एवं पाशग्रस्त अङ्गुष्ठमात्र परिणामी पुरुषको बलात् निकाला था।, तब फिर यह कैसे कहा जाता है कि इसका कोई स्वरूप आकार देखनेमें नही आया है ? इसका उत्तर देते हैं-

किन्तु कुछ लोग यमराजको ही मृत्यु मानते हैं तथा वह यमराज हो सभी देहधारी प्राणियोंकी अन्तरात्मामें अवस्थित एवं वह अमृतरूप और ब्रह्मनिष्ठ है जो पितृलोकमें प्रशासन करता है पापियोंको दुःख और पुण्यात्माओंको सुख देता है ॥ ६ ॥

यह सत्य है कि मृत्युका स्वरूप देखनेमें आता है तो भी वह साक्षात् मृत्यु नहीं है। तब फिर वह साक्षात् मृत्यु कौन-सा है ? जो प्रमादनामका मृत्यु अज्ञान है वही साक्षात् असज्जनोंके लिए विनाशका हेतु है इसलिए उसे मृत्यु कहा जाता है।

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' इति । बृहदारण्यके प्रमादाख्यस्याज्ञानस्य साक्षान्मृत्युत्वं दर्शितम्—'मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम्' इति । यस्मात्प्रमाद एव साक्षात् सर्वानर्थबीजं तस्मान्न प्रमाद्येत, चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मभावेनैवावतिष्ठेतेत्यर्थः । तथा चाज्ञानस्य बन्धहेतुत्वं विज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वमुक्तं भगवता—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इति ।

यस्मात्प्रमाद एव मृत्युः, अप्रमादोऽमृतत्वम्, अत एव न कर्मसाध्यममृतत्वम् । नापि कर्मप्राप्यम्, नित्यसिद्धत्वात्, नित्यप्राप्तत्वाच्च । तथा च श्रुतिः—'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति । तथा—'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं दर्शितम् । तथा

अथ च यदि इस मर्त्यलोकमें आत्मतत्त्वको जान लिया है तब इससे अधिक अन्य हितकर क्या हो सकता है किन्तु यहाँपर रहते हुए उस परमतत्त्वको नहीं जाना है तब फिर इससे बढ़कर दूसरी क्षति उसके लिए ओर कौन-सी हो सकती है। श्रुतिगत वाक्यमें विनाशका मूलभूत कारण अज्ञान बताया गया है। इस प्रकार अज्ञान हो मृत्यु है और आत्मज्योति ही अमृत है। इस बृहदारण्यकोपनिषद्में प्रमादनामक अज्ञानको ही साक्षात् मृत्युके रूपमें प्रदर्शित किया है; जबकि प्रमाद ही साक्षात् समस्त अनर्थका बीज सिद्ध होता है। अत: कभी भी प्राणी प्रमाद न करे। तात्पर्य यह है कि अपने सच्चिदानन्दघन अद्वितीय ब्रह्मभावमें ही स्थिर रहें। तथा च गीताशास्त्रमें भगवान् द्वारा कहा गया है कि प्रकाशात्मकज्ञान मायाके द्वारा आवृत्त हुआ है इससे ये सभी जीवात्मा मोहित हो रहे हैं। इस प्रकार बन्धनका हेतु अज्ञान है और मोक्ष का हेतु संविद्रूपज्ञान है।

जिससे प्रमाद ही मृत्यु है और प्रमादका न होना ही अमृतत्व है। अत एव नित्य-सिद्ध होनेके कारण अमृत कर्म द्वारा प्राप्य नहीं है और न नित्य प्राप्त होनेके कारण कर्म द्वारा प्राप्त भी नहीं किया जा सकता है। तथा च श्रुतिका प्रमाण है कि यह तत्त्ववेत्ता पुरुषकी महान् महिमा है इससे वह कर्म द्वारा वृद्धि और ह्रासका भी विषय नही हो सकता है। तथा उस तत्त्वज्ञानको जानकर पुरुष मृत्युका भी अतिक्रमण कर लेता है इससे बढ़कर मोक्षके लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है। तत्त्वदर्शी धीर पुरुष उसीको जानकर उसीमें अपनी बुद्धिको स्थिर करे। इस प्रकार ज्ञानको ही मोक्ष धर्मका साधन दिखलाया है। तथा च इस परमतत्त्वको व्यक्ति न चक्षुसे ग्रहण और न वाणीसे अभिव्यक्त एवं

च 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति।

वक्ष्यति च भगवान् ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वम्—'अन्तवन्तः क्षत्रिय ते जयन्ति लोकाञ्जनाः कर्मणा निर्मितेन' (३।१८) इति, 'एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः' इति च। तथा च मोक्षधर्मे—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥इति॥
ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञा
ज्ञानेन दुर्गं तरते न यज्ञैः ॥ इति च ॥

तथा च ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं मन्यमानः सर्वकर्मपरित्यागमाह भगवान् वेदाचार्यो मनुः—

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद् वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥
इति तथाऽऽह भगवान् परमेश्वरः—
ज्ञानं तु केवलं सम्यगपवर्गफलप्रदम्।
तस्माद् भवद्भिर्विमलं ज्ञानं कैवल्यसाधनम्॥
विज्ञातव्यं प्रयत्नेन श्रोतव्यं दृश्यमेव च।

न इन्द्रियवर्गसे तथा न तपसे अथवा कर्मसे ही प्राप्त कर सकता है। ज्ञानके प्रसादसे विशुद्ध अन्तःकरण हुआ यह हृदयकमलमें ध्यान करनेपर उस निष्फल परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है।

भगवान् श्रीसनत्सुजात मोक्षधर्मकी प्राप्तिमें हेतुरूप ज्ञानका ही निर्वचन करेंगे—'हे क्षत्रिय! वे लोग तो कर्म द्वारा निर्मित नश्वर लोकोंको ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार मृत्युको उद्भवरूप समझकर ज्ञानपूर्वक अपनेमें स्थित रहता हुआ यह विवेकी पुरुष मृत्युसे भयभीत नहीं होता है। तथा च मोक्षधर्ममें भी सुना जाता है कि—

'जीवात्मा कर्म द्वारा बन्धनग्रस्त हो जाता है और विद्यासे विमुक्त हो जाता है। अतः तत्त्वदर्शी यतिलोग कर्मसे दूर रहते हैं।' एवञ्च 'जितनी तत्त्व-ज्ञानकी महिमा है उतनी यज्ञकी महिमा नहीं है', क्योंकि व्यक्ति ज्ञान द्वारा दुस्तर भवसागरसे पार हो जाता है यह कार्य यज्ञ द्वारा सुलभ नहीं है। तथा च भगवान् वेदाचार्य मनु मोक्षधर्मके साधन ज्ञानको मानते हुए समस्त कर्मका परित्याग ही सर्वश्रेष्ठ दिखाते हैं—

एकः सर्वत्रगो ह्यात्मा केवलश्चितिमात्रकः ॥
आनन्दो निर्मलो नित्यः स्यादेतत्सांख्यदर्शनम् ।
एतदेव परं ज्ञानमेतन्मोक्षोऽनुगीयते ॥
एतत्कैवल्यममलं ब्रह्मभावश्च वर्णितः ।
आश्रित्यैतत्परं तत्त्वं तन्निष्ठास्तत्परायणाः ॥
गच्छन्ति मां महात्मानो यतयो विश्वमीश्वरम् ॥ इति ॥

नन्वेवं चेत्तर्हि कर्माणि नानुष्ठेयानि ?

न न नुष्ठेयानि, किंतु ज्ञानिना नानुष्ठेयानि । तथा चाह भगवान् वासुदेवः —

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ इति ॥
तथा च ब्रह्माण्डपुराणे कावषेयाः—
किमद्य नश्चाध्ययनेन कार्यं किमर्थवन्तश्च मखैर्यजामः ।
प्राणं हि वाप्यनले जोहवीमः प्राणानले जुह्वीमीति वाचम् ॥ इति ॥

विद्वज्जनोंका यही परम कर्त्तव्य है कि यथोक्त कर्मोंको छोड़कर आत्मज्ञान, शम-मनोनिग्रह और वेदोंके स्वाध्याय करनेमें अविरत यत्नशील बने रहें। इस विषयमें भगवान् परमेश्वरने भी कहा है कि 'तत्त्वज्ञान ही एकमात्र अच्छी तरह मोक्षरूप महाफल देनेमें सक्षम है, इसलिए आपके द्वारा कैवल्यपदका साधनरूप निर्मल तत्त्वज्ञान ही यत्नपूर्वक जाना जाये एवं श्रवण और अनुभवका विषय हो; क्योंकि आत्मा ही एकमात्र विभु, चिद्रूप, आनन्दस्वरूप, विमल और नित्य-शाश्वत है एवं यही सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त है तथा यही सर्वोत्कृष्ट ज्ञान भी है एवं इसीको मोक्षपद कहा जाता है। यह अमल कैवल्यधाम है और ब्रह्मभावके रूपमें प्रतिपादित है। इस परमतत्त्वका आश्रय ग्रहणकर उस तत्त्वमें निष्ठायुक्त और उसके परायण होकर महात्मा यतिवृन्द मुझ सर्वव्यापक परमेश्वरको पा लेते हैं।'

अच्छा तो, यदि यह बात है तब फिर कर्मानुष्ठान नहीं करना चाहिए ? कर्मानुष्ठान नहीं करना चाहिए, यह बात नहीं है अपितु ज्ञानी पुरुषके लिए कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करना होगा। तथा च भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गीतामें कहा गया है कि परन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही प्रीतिवाला और आत्मामें ही तृप्त एवं आत्मामें सन्तुष्ट है उसके लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं रह जाता है।' एवं च ब्रह्माण्डपुराणमें कावषेयोंका कथन है कि 'अब हमलोगोंका अध्ययनसे

तथा च बह्वृचब्राह्मणोपनिषद्—'किमर्थं वयमध्येष्यामहे।' तथा च बृहदारण्यके विदुषः कर्मसंन्यासं दर्शयति—'एतद्ध स्म वैतत् पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।' इति। तथा लैङ्गे—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥ इति॥

तथा च आथर्वणी श्रुतिः—'नैतद्विद्वानृषिणा विधेये न रुन्ध्यते विधिना शब्दकारः॥' इति।

केन तर्ह्यनुष्ठेयानि?

अज्ञानिना आरुरुक्षुणा सर्वकर्माणि सर्वदा अनुष्ठेयानि, न ज्ञानिना। तथा चाह भगवान्—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ इति॥

क्या प्रयोजन है? तथा हम किस उद्देश्यसे यज्ञ-यागादि करे। जससे कि प्राणका अग्निमें यजन करे और प्राणाग्निमें वाणीका हवन करते रहे। तथा बह्वृच ब्राह्मणोपनिषद्में कहा गया है कि किस लिए हम अध्ययन करेंगे। ऐसा ही बृहदारण्यकोपनिषद्में तत्त्वदर्शीके लिए कर्मसन्यासका प्रतिपादन किया है इसको जाननेवाले पूर्वकालमें विद्वान् पुरुषोंके द्वारा सुना जाता था कि हमलोगोंके लिए यह आत्मलोक ही श्रेयकर है इसलिए सन्तानसे हमारा क्या प्रयोजन है यह मानकर प्रजाकी कामना नहीं करते थे। अत एव वे पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणाका त्यागकर भिक्षाटन किया करते थे।

तथा लिङ्गपुराणमें भी सुना गया है कि ज्ञानरूप अमृतसे तृप्त हुए कृतकृतार्थ योगिके लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं रह जाता है यदि कुछ कर्तव्य है तो वह तत्त्वदर्शी नहीं है।

तथा च आथर्वणी श्रुतिका भी उल्लेख मिलता है कि यह विद्वान् पुरुष वेदमन्त्र द्वारा विहित कर्ममें न प्रवृत्त ही होता है और न विधिसे बाधा भी जाता है; क्योंकि ऋषिलोग तो केवल शब्दरूप वेदमन्त्रोंका स्रष्टा ही है।

ऐसी स्थितिमें कर्मानुष्ठान क्या है?

मोक्ष-मार्गमें प्रवृत्त होनेका इच्छुक अज्ञानी पुरुषके लिए सर्वदा कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए किन्तु ज्ञानी पुरुषके लिए कर्मानुष्ठान नहीं रह जाता है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ इति च ॥

तथा चाह भगवान् सत्यवतीसुतः—

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च व्यवस्थितः ॥ इति ॥

नन्वेवमारुरुक्षुणापि कर्माणि नानुष्ठेयानि, कर्मणां बन्धहेतुत्वात् । तथा चोक्तं भगवना—

'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।' इति ॥

सत्यम्, तथापि ईश्वरार्थतया फलनिरपेक्षमनुष्ठीयमानानि न बन्धहेतूनि । तथा चोक्तं भगवता—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ इति ॥

तथा च भगवान् द्वारा गीतामें कहा गया है कि हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा प्राचीनकालमें ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे बतलायी गयी है । योगमें आरूढ होनेकी इच्छा-वाले मुनिके लिए योगकी प्राप्तिमें निष्कामभाव पूर्वक कर्म हो साधन कहा जाता है और योगारूढ हो जानेपर उसके लिए समस्त मनोजन्य संकल्पोंका अभाव ही हेतु कहा जाता है ।

तथा च सत्यवती नन्दन भगवान् वेदव्यासनेकहा है कि जिनमें वेद प्रतिष्ठित है ऐसे ये दो मार्ग प्रवृत्तिरूप धर्ममार्ग और निर्मलभाववाला निर्वृत्तिपरायण मार्ग है ।

अच्छा तो, योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले व्यक्तिके द्वारा भी कर्मोंका अनुष्ठान नहीं होना चाहिए क्योंकि कर्म तो बन्धनके कारण है । इस विषयमें भगवान्‌ने कहा है कि प्राणी कर्मसे बँध जाता है और विद्यासे विमुक्त हो जाता है ।

यह बात सत्य है, किन्तु कर्मजनित फलकी आकांक्षा न रखते हुए परमेश्वरके निमित्त क्रियमाण कर्म बन्धनके हेतु नहीं होते हैं । ऐसा ही भगवान् ने गीतामें कहा है कि परमात्माके निमित्त किये हुए कर्मसे अतिरिक्त दूसरे कर्ममें आसक्त यह पुरुष कर्मों द्वारा बन्ध जाता है । अत एव हे कौन्तेय ! आसक्ति-भावको छोड़कर उस परमेश्वरके निमित्त कर्मका अच्छी प्रकार आचरण कर ।

किमर्थं तर्हि तेषामनुष्ठानम्?

सत्त्वशुद्ध्यर्थमिति ब्रूम:। तथा चोक्तं भगवता—

> **कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।**
> **योगिन: कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ इति॥**
> **यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ इति॥**
> **गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतस:।**
> **यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ इति च॥**

तथा च—

> **कषायपक्ति: कर्माणि ज्ञानं तु परमा गति:।**
> **कषाये कर्मभि: पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥ इति॥**

ननु कर्मणामपि मोक्षहेतुत्वं श्रूयते—

किन्तु उनका कर्म किस उद्देश्यसे संपादित किया जाय?

इसके समाधानमें हम कहते है कि—अन्त:करणकी विशुद्धिके लिए उन कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए। तथा च भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें दिखलाया है कि—

निष्कामभावपूर्वक कर्मानुष्ठान करनेवाले योगी केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्तिका परित्याग कर चित्तको विशुद्धिके हेतु कर्म करते हैं। इस प्रकार 'यज्ञ, दान और तप ये तीनों नि:सन्देह मनीषियोंका पवित्र करनेवाले हैं। नि:संगभावसे तत्त्वज्ञानमें स्थित हुए चित्तवाले यज्ञके लिए आचरण करते हुए विमुक्त पुरुषके समस्त कर्म विनष्ट हो जाते हैं।'

ऐसा कहा भी है—कर्मसे अनादि वासनाओंका क्षय होता है और प्रकाशात्मक ज्ञानसे तो उत्तम गति है; क्योंकि कर्मों द्वारा वासनाओंका क्षय हो जाने पर ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है।

अच्छा तो, मोक्ष प्राप्तिमें हेतुभूत कर्मोंका भी उपनिषदोंमें उल्लेख मिलता है—

जो विद्या और अविद्या अर्थात् देवता ज्ञान और कर्म इन दोनोंका युगपत् व्यक्तिसे अनुष्ठित जानता है। वह अविद्यात्मक अग्निहोत्रादिरूप कर्मसे मृत्युको पार करके विद्यासे अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है।

ऐसा भगवान् मनुका भी कहना है कि तप और विद्या ये दोनों ही ब्राह्मणके लिए परम हितकारी है।

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ् सह'। इति
'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा' ॥ इति च

तथा च मनुः—

'तपो विद्या व विप्रस्य निःश्रेयसकरे उभे'। इति

नैतत्, पूर्वापराननुसंधानबिन्धनोऽयं भ्रमः। तथा हि—'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ् सह' इत्युक्त्वा 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इति विद्याविद्ययोर्भिन्नविषयत्वेन समुच्चयाभावः श्रुत्यैव दर्शितः। इममेवार्थं स्पष्टयन् भगवान्मनुः—'तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरे उभे' इत्युक्ते समुच्चयाशङ्का मा भूदिति 'तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते' इति तपसो नित्यनैमित्तिक-लक्षणस्य कर्मणोऽन्तःकरणशुद्धावेव विनियोगं दर्शितवान्।

किन्तु यह समीचीन नहीं है, जबकि पूर्व-अपर प्रकरणका अनुसंधान न करनेसे ही यह संशय उद्भव होता है। जैसाकि जो विद्या और अविद्या इन दोनोंको एक ही पुरुषसे युगपत् अनुष्ठान किये जाने योग्य जानता है, ऐसा विवेचन कर अविद्यासे मृत्यको पार कर विद्यासे अमृतत्वको प्राप्तकर लेता है। इस प्रकार भगवती श्रुति द्वारा ही विद्या और अविद्याका परस्पर भिन्न विषय होनेसे ज्ञान एवं कर्मके समुच्चयका अभाव प्रतिपादित हुआ है।

इसी अर्थका स्पष्टतया विस्तार करते हुए भगवान् मनु कहते हैं—'तप और विद्या ये दोनों ही ब्राह्मणके लिए परमश्रेयसकारी है। ऐसा विवेचन करनेपर ज्ञान और कर्मके समुच्चयकी शंका न हो जाय। तपसे पापका विनाश कर देता है और ज्ञानसे अमृतत्व पा लेता है।'

इस प्रकार तप-नित्य-नैमित्तिक लक्षणवाले कर्मका विनियोग अन्तः-करणकी विशुद्धिमें हेतु माना जाता है। अथ च यह नाम-रूपात्मक और कर्मसंज्ञक सारा संसार ही परमेश्वर द्वारा आच्छादनीय है। इस श्रुति-वाक्य द्वारा समस्त संसारकी परमेश्वररूपताका वर्णन कर परमेश्वरस्वरूप समस्त नाम रूपात्मक विश्वको ज्ञानरूपसे देखनेवाले विद्वान्ने उस प्रकाशरूप दर्शनसे कृतार्थता का अनुभव प्राप्त कर लिया है अतः वह किसी अन्य प्रयोजनको नहीं देखता है उसका त्यागपूर्वक तू आत्माका पालन कर।' इस प्रकार त्यागभावसे ही अपने जीवन निर्वाहका निश्चय कर, ज्ञानहीन पुरुष अपने जीवन-यात्राका निर्वाह कैसे करेगा ? ऐसी आशंका कर समाधान करते हैं—इस संसारमें कर्म करते हुए सौ वर्षपर्यन्त जीनेकी इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्यत्वका अभिमान करने वाले तेरे लिए इससे भिन्न कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं है, जिससे तुझे अशुभ कर्मका संस्पर्श

तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इति सर्वस्य तावन्मात्रत्वमुक्त्वा तदात्मभूतस्य सर्वस्य तावन्मात्रत्वं पश्यतस्तद्दर्शनेनैव कृतार्थस्य साध्यान्तरमपश्यतः 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इति त्यागेनैवात्मपरिपालनमुक्त्वा, अतदात्मवेदिनः केन तर्हि आत्मपरिपालनम् ? इत्याशङ्क्याह—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे'॥ इति। एवं सर्वभूते त्वयि नरमात्राभिमानिन्यज्ञेऽविद्यानिमित्तोत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशाभावात्, कुर्वन्नेव सदा यावज्जीवं कर्म जिजीविषेदित्यज्ञस्य नरमात्राभिमानिनः शुद्धचर्थं यावज्जीवं कर्माणि दर्शयति। अत एभिरपि वाक्यैः कर्मणां शुद्धिसाधनत्वमेवावगम्यते, न मोक्षसाधनत्वम्।

यदप्युक्तम्—'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' इति शब्दात्समुच्चयोऽवगम्यते—तदपि प्रसिद्धश्रुतिविनियोगानुसारेण वेदितव्यम्। तथा चानुगीतासु स्पष्टमाह भगवान् कर्मणां शुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्—

न हो। इस प्रकार सभी भूत-प्राणियोंमें मनुष्यत्वका अभिमान करनेवाले तुझ ज्ञानहीनका अविद्याके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले संचित कर्मका विनाश और क्रियमाण कर्मसे सम्पर्काभाव सर्वथा नहीं होगा। इसलिए निरन्तर जीवनपर्यन्त कर्मानुष्ठान करते हुए जीनेकी इच्छा करे। इस प्रकार श्रुति द्वारा मनुष्यमात्रत्व का अभिमान करनेवाले अज्ञानी प्राणीकी अन्तःकरणकी परिशुद्धिके लिए यावत् जीवन कर्मानुष्ठानका निर्देश किया जाता है। अत एव इन श्रुति-वाक्यों द्वारा भी अन्तःकरणकी विशुद्धिमें कर्मोंका अनुष्ठान साधनरूपसे अवगत हो रहा है, किन्तु मोक्षधर्मकी प्राप्तिके साधनभूतसे ज्ञात नहीं होता है।

जबकि यह कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता और पुण्यात्मा पुरुष ही परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं। इस श्रुति-वाक्यमें 'च' शब्दसे समुच्चयका बोध होता है तो भी प्रसिद्ध श्रुति-वाक्यके विनियोगके अनुरूप ही जानना चाहिए। तथा च अनुगीतामें भगवान्ने स्पष्ट ही अन्तःकरणकी विशुद्धिके द्वारा मोक्षधर्मकी प्राप्तिमें साधनभूत कर्मोंका विवेचन किया है—जीवात्मा कर्मजनित फलासक्तिको छोड़कर शुद्ध नित्य नैमित्तिक कर्मोंके द्वारा पुरुष अन्तःकरणको विशुद्धिको प्राप्त होकर योगारूढ हो जायेगा।

अनन्तर योगमें आरूढ हुआ पुरुष भगवान् श्रीविष्णुके उस दिव्यधामको प्राप्त हो जाता है। गुरुभक्ति, धैर्य, धर्मभावना वेदशास्त्रोंका ज्ञान और ईश भक्तिसे ही सदा विमल तत्त्वज्ञान प्रकट होता है। अत एव वह विवेकी पुरुष वेदोंके प्रति आस्तिक बुद्धिवाला और धर्मपरायण होकर अपनी शक्तिके

नित्यनैमित्तिकैः शुद्धैः फलसङ्गविवर्जितैः ।
सत्त्वशुद्धिमवाप्याथ योगारूढो भविष्यति ॥
योगारूढस्ततो याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
गुरुभक्त्या च धृत्या च धर्मभक्त्या श्रुतेन च ।
विष्णुभक्त्या च सततं ज्ञानमुत्पद्यतेऽमलम् ॥
तस्माद् धर्मपरो भूत्वा वेदास्तिक्यसमन्वितः ।
कुर्वन् वै नित्यकर्माणि यथाशक्ति स बुद्धिमान् ॥
फलानि पर आसाद्य वासुदेवे परात्मनि ।
शुद्धसत्त्वो भवत्येव योगारूढश्च जायते ॥

वक्ष्यति च भगवान् सनत्सुजातः शुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्—

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात् स जायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ (२।८)

'ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वान्' इति ।

ननु कथं सत्त्वशुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम् ? विनापि सत्त्वशुद्धिज्ञानेनैव मोक्षः सिध्यत्येव ।

अनुसार नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ जीता है और कर्मजनित फल वासुदेव परमब्रह्म परमात्माको समर्पित कर विशुद्ध अन्तःकरणसे युक्त हो जाता है और वह योगमें आरूढ हो जाता है ।'

इस विषयमें भगवान् श्रीसनत्सुजात अन्तःकरणकी विशुद्धिके द्वारा ही मोक्षधर्मकी प्राप्तिके साधनका निरूपण करेंगे—

'उस परमात्माकी प्राप्तिके निमित्त ही ये तप और यज्ञ कहे हुए हैं । उन दोनोंसे यह विद्वान् पुरुष पुण्यधर्मको प्राप्त कर लेता है, पश्चात् पुण्यधर्मसे पापका विनाश कर वह ज्ञान प्रकाशरूप हो जाता है ।' एवञ्च विद्वान् पुरुष ज्ञानसे स्व-स्वरूपको पा लेता है । इन वाक्यों द्वारा कर्मका अन्तःकरणकी शुद्धिसे ही मोक्षकी प्राप्तिमें साधन कहा जाता है ।

अच्छा तो, अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ही मोक्ष प्राप्तिमें साधन कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना भी ज्ञानसे ही मोक्षधर्मकी सिद्धि हो जायेगी । यह बात सत्य है कि ज्ञान द्वारा ही मोक्ष सिद्ध होता है । किन्तु हमारा कहना यह है कि उस तत्त्वज्ञानकी अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना उत्पत्ति सम्भव नहीं है । और इस विषयमें ऐसा ही कहा गया है कि—

सत्यम्, ज्ञानेनैव मोक्षः सिध्यति, किंतु तदेव ज्ञानं सत्त्वशुद्धिं विना नोत्पद्यत इति वयं ब्रूमः। तथा चोक्तम्--
'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इति।

तथा—

अनेकजन्मसंसारचिते पापसमुच्चये।
नाक्षीणे जायते पुंसां गोविन्दाभिमुखी मतिः॥
जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥ इति॥

तथा चोक्तं भगवता—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ इति।

पुरुषोंमें पापकर्मके क्षय होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। तथा 'जन्म-जन्मान्तरोंमें एकत्रित हुए पाप-समूहका क्षय किये बिना जीवोंकी परमात्माके सन्मुख बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। सहस्र जन्मान्तरोंमें सम्पादित तप, ध्यान और समाधि द्वारा जिनके पाप विनष्ट हो गये हैं ऐसे भगवद्भक्तोंमें ही भगवान् श्रीकृष्णकी निर्मल भक्ति उत्पन्न होती है।' ऐसा ही गीताशास्त्रमें भगवान्ने कहा है—

वह जन्म-जन्मान्तरोंमें सम्पादित शुभकर्मोंसे ही उत्तम गतिको प्राप्त होता है। योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है और ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है एवं कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है इसलिए हे अर्जुन! तू योगी हो। अपने-अपने कर्ममें स्थित हुआ मनुष्य आत्मसिद्धि प्राप्त होता है। जैसे सहज कर्ममें निरत हुआ यह विद्वान् पुरुष परमसिद्धिको प्राप्त होता है उसे तू सुन। जिस परमात्मासे समस्त भूत-प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है उस परमात्माको अपने सहज कर्म द्वारा पूज कर मनुष्य सर्वोत्कृष्ट सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

तथा चाह याज्ञवल्क्यः—

'तथाविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः' इति ।

यस्माद् विशुद्धसत्त्वस्यस्यैव नित्यानित्यवस्तुविवेकादिद्वारेण मोक्षसाधनज्ञाननिष्पत्तिः, तस्मात्सत्त्वशुद्ध्यर्थं सर्वेश्वरमुद्दिश्य सर्वाणि वाङ्मनःकायलक्षणानि श्रौतस्मार्तानि कर्माणि समाचरेद् यावद्विशुद्धसत्त्व इहामुत्रफलभोगविरागो योगारूढो भवति । तथा चाह भगवान्–'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' इति । संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः' इति । तस्य लक्षणमुक्तम्–'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते । सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥' इति ।

यस्तु पुनरेवं यज्ञदानादिना विशुद्धसत्त्व इहामुत्रफलभोगविरागो योगारूढो भवति तस्य शम एव कारणं न कर्म इति । तथा चोक्तम्—'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' इति । यस्माद्योगारूढस्य शम एव कारणं न कर्म, तस्माच्छमदमादिसाधनसम्पन्नः श्रवणादिसमन्वितः 'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥'

यह याज्ञवल्क्य मुनि द्वारा भी कहा गया है कि जिनकी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हो चुकी हैं वे आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें सक्षम नहीं हैं अर्थात् अजितेन्द्रिय व्यक्ति तत्त्वज्ञानसे वञ्चित रह जाते हैं। जबकि नित्य-अनित्य-वस्तुके विवेकादि द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण हुए पुरुषको ही मोक्ष प्राप्तिके साधनरूप ज्ञानकी सिद्धि होती है। इसलिए यावत्काल पर्यन्त अन्तःकरणकी शुद्धिसे युक्त हुआ भलीभाँति लौकिक और पारलौकिक कर्मजनित फल भोगसे विरत होकर परमात्मरूप योगमें आरूढ न हो जाय, तावत्कालपर्यन्त सत्त्व विशुद्धिके हेतु परमेश्वरके प्रति समर्पणभावपूर्वक श्रौत एवं स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान मन, वाणी और शरीरसे करे। ऐसा ही भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—'योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मुनिके लिए तो योगकी प्राप्तिमें निष्काम कर्म ही हेतु कहा है।' किन्तु हे महाबाहो ! निष्कामभावके बिना समस्त कर्तृत्वभावका त्याग करना अत्यन्त कठिन है।' उस संन्यास धर्मका स्वरूप दिखाया गया है—जब पुरुष इन्द्रिय-सम्बन्धी विषयोंमें आसक्त नहीं होता है और कर्मोंमें ही आसक्त रहता है तभी समस्त संकल्पोंको त्यागनेवाला पुरुष योगारूढ कहा जाता है।'

परन्तु इस प्रकार यज्ञ, दान और कर्म द्वारा विशुद्ध अन्तःकरणसे युक्त होकर लौकिक और पारलौकिक फलभोगसे विरक्त हुआ जो यह पुरुष

कथं तर्हि योगानुष्ठानं कार्यम् ?

शृणु--समे देशे शर्करावह्निवालुकाशब्दजलाशयादिवर्जिते मनोऽनुकूले शुचौ नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं स्थिरमासनं प्रतिष्ठाप्य तत्रोपविश्यासनं स्वस्तिकादि बद्ध्वा समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं विश्वादीन् विश्वतैजसप्राज्ञान् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिक्रमेण कार्यकारणविनिर्मुक्ते पूर्णात्मनि उपसंहृत्य पूर्णात्मना स्थित्वा ध्यायेत्पुरिशयं देवं पूर्णानन्दं निरञ्जनम् अपूर्वानपरं ब्रह्म नेतिनेत्यादिलक्षणम् अशनायाद्यसंस्पृष्टमनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थितं परं परमात्मानमोमिति । तथा चोक्तं ब्रह्मविद्भिः—

विविक्तदेशमाश्रित्य ब्राह्मणः शुद्धचेतसा ।
भावयेत्पूर्णमाकाशं हृद्याकाशाश्रयं विभुम् ॥

योगमें आरूढ हो जाता है, उसके लिए शम ही कारण है, फिर कर्म नहीं रह जाता ।

गीतामें ऐसा ही कहा गया है कि–'समत्व-प्रज्ञारूप योगमें आरूढ होनेका इच्छुक मनीषीके लिए योग प्राप्तिमें निष्कामभावपूर्वक कर्म करना ही साधन कहा जाता है ।' जिससे योगमें आरूढ हुए पुरुषके लिए शम ही हेतु है, कर्म हेतु नहीं है । इसलिए शम-दमादि साधन सम्पन्न व्यक्ति श्रवणादिसे युक्त होकर 'जिसका मन और इन्द्रियवर्ग सहित शरीरको वशीभूत हो गया है ऐसा आशारहित, एकाकी निर्जन प्रदेशमें अवस्थित हुआ सतत अपने स्व-स्वरूपमें ही स्थिर रहें ।'

किन्तु योगानुष्ठान कैसे करना चाहिए ? सुनो–कङ्कड़, वह्नि, बालू, शब्द और जलाशय आदिसे शून्य, अपने मनोऽनुकूल, पवित्र वातावरणसे युक्त हो एवं समान भूमिमें जो न अधिक निम्न और न अधिन उन्नत है इस प्रकार क्रमशः कुश, मृगचर्म या व्याघ्रचर्म एवं उसके ऊपर वस्त्रका आसन बिछाकर उसपर स्थिर होकर स्वस्तिकादि बाँधकर कान, सिर एवं गरदनको अचल रखते हुए विश्वादिको अर्थात् विश्व, तैजस और प्राज्ञको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके क्रमसे कार्य-कारणसे विमुक्त परिपूर्णात्मामें उपसंहृत कर पूर्णभावसे स्थित होकर शरीररूप पुरमें रहनेवाले पूर्णानन्द, निरञ्जनदेव जो पूर्वापरसे रहित 'नेति-नेति' इत्यादि श्रुतिवाक्योक्त लक्षणसे युक्त ब्रह्मतत्त्व क्षुत्पिपासादि अनित्य-धर्मों से असम्बन्धित एवं अस्त-उदयभावसे-शून्य ज्ञानरूपसे अवस्थित परमात्माका वाचक (ॐ) इस मन्त्रका जप करता हुआ साधक हृदयमें ध्यान करे । ऐसा ही ब्रह्मदर्शियों द्वारा कहा गया है कि 'ब्राह्मण निर्जन एकान्त प्रदेशका आश्रय

तथा चोक्तं ब्रह्माण्डपुराणे कावषेयगीतासु—

तस्माद्विमोक्षाय कुरु प्रयत्नं
दुःखाद्विमुक्तो भवितासि येन।
ॐ ब्रह्म शून्यं परमं प्रधान-
मानन्दमात्रं प्रणवं जुषस्व ।।इति।।

एवं युञ्जन् सदाऽऽत्मानं परमात्मत्वेन यदा साक्षाद्विजानाति तदा निरस्ताज्ञानतत्कार्यो वीतशोकः कृतकृत्यो भवति। तथा च बृहदारण्यके—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत् ।। इति। तथा च ईशावास्ये—'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।' इति। तथा च कठवल्लीषु—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।

'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते,' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' इति। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।'

लेकर शुद्धभावसे अपने हृदयाकाशमें स्थित व्यापक परमात्माका ध्यान करे। यही बात ब्रह्माण्डपुराणके कावषेय गीतामें कही है—'अत एव तू मोक्षधर्मकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न कर। जिससे तू दुःखसे विमुक्त हो जायेगा। ॐ जो सबका परमकारण सर्वत्र व्यापक और आनन्दस्वरूप ब्रह्म है उस प्रणवकी तू उपासना कर।'

एवं जब योगाभ्यास, करता हुआ यह साधक सद्रूप आत्माको साक्षात् परमात्माके रूपमें जान लेता है तब अज्ञान और उसके कार्यसे विमुक्त होकर शोकरहित कृतकृत्य हो जाता है।

तथा बृहदारण्यक उपनिषद्में वर्णित है कि यदि पुरुष अपने आत्मस्वरूपको परमात्माके रूपमें जान लेता है तो क्या वह इच्छा करता हुआ किस कल्पनासे अपने आपको संतप्त करेगा। एवं ईशावास्योपनिषद्में भी निर्देश किया गया है—जिस कालमें तत्त्ववेत्ताके लिए समस्त भूतप्राणी अपने स्वरूपभूत ही हो गये हैं उस कालमें अभेद भावसे दर्शन करनेवाले उस ज्ञानीको क्या शोक और क्या मोह हो सकता है?' और इस विषयमें कठवल्लीमें धर्मराजने नचिकेताके प्रति कहा है कि—अत्यन्त कठिनतासे दर्शन होने योग्य गूढ-गहन

तथा चाह भगवान्—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ इति ॥

तथा च कावषेयगीतासु—

आत्मज्ञः शोकसंतीर्णो न बिभेति कुतश्चन ।
मृत्योः सकाशान्मरणादथवान्यकृताद्भयात् ॥
न जायते न म्रियते न वध्यो न च घातकः ।
न बद्धो बद्धकारी वा न मुक्तो न च मोक्षदः ॥
पुरुषः परमात्मायं यत्ततोऽन्यदसच्च तत् ।
अज्ञानपाशे निर्भिन्ने च्छिन्ने महति संशये ॥
शुभाशुभे च संकीर्णे दग्धे बीजे च जन्मनाम् ।
प्रयाति परमानन्दं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ इति ॥

स्थानमें अनुप्रविष्ट, बुद्धिरूप गुहामें स्थित, उस पुराण पुरुषको अध्यात्मयोग द्वारा जान कर धीर बुद्धिमान् पुरुष हर्ष और शोकसे विमुक्त हो जाता है ।'

'साधक पुरुष उस परमात्माको जान कर मृत्युके मुखसे मुक्त हो जाता है ।' 'ब्रह्मानन्दमें स्थित हुआ तत्त्वदर्शी किसीसे भी भयान्वित नहीं होता है ।' 'उस कार्यकारणरूप परमात्माको अपरोक्षरूपसे जानकर जीवन्मुक्त पुरुषके हृदयगत ग्रन्थि खुल जाती है । सब संशय-समूह कट जाते हैं और समस्त कर्म विनष्ट हो जाते हैं ।'

इस विषयमें भगवान् द्वारा कहा गया है कि–यह आत्मा इन्द्रियोंका अविषय है और यह मनसे भी अचिन्तनीय है एवं यह विकार रहित अपरिवर्तनशील स्वभाववाला कहा जाता है । इसलिए इसको उस प्रकारसे जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है ।' हे ब्रह्मविद्यामें प्रीति रखनेवाले भारत ! इस आत्माको अच्छी तरह जान कर विवेकी पुरुष कृतार्थ हो जाता है ।'

ऐसा ही कावषेयगीतामें उल्लेख मिलता है कि शोकसे संतीर्ण हुआ यह आत्मवेत्ता पुरुष मृत्युकी निकटतासे, मरणसे अथवा किसी दूसरे कारणसे उत्पन्न हुए भयसे नहीं पीड़ित होता है ।' जिससे कि वह आत्मतत्त्व जन्म नहीं ग्रहण करता है और न मरता ही है एवं न किसीसे बध भी होता है और न किसीका बध करनेवाला ही है । वह न बद्ध है और न बाँधनेवाला ही है ।

तथा चाह भगवान् मनुः—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥
एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ इति ॥

यस्मात्तद्विज्ञानादेव परमपुरुषार्थप्राप्तिः, तस्मात्तमेव परमानन्दात्मानम् आत्मत्वेन जानीयादयमहमस्मीति न किंचिदन्यच्चिन्तयेत् । तथा च श्रुतिः—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥' इति । 'तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ', 'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्' इति । तथा च भगवान् वासुदेवः—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ इति ॥
एवं प्रसंगात्सर्वशास्त्रार्थः संक्षेपतो दर्शितः ॥

वह न मुक्त है और न मुक्ति देनेवाला ही है ।' यह पुरुष ही साक्षात् परमात्मा है जो इससे भिन्न है वह सब असद्रूप ही है, अज्ञानरूप पापके विनष्ट होनेपर, महान् संशयकी निवृत्ति होनेपर, शुभाशुभ कर्मोंके विच्छिन्न होनेपर और जन्म-मरणरूप बीजके दग्ध हो जानेपर यह तत्त्वदर्शी परमब्रह्म परमात्माको पा लेता है ।

ऐसा ही भगवान् मनुने कहा है—इन सबोंमें आत्मज्ञानको सर्वोत्कृष्ट दिखलाया है । वही समस्त ब्रह्मविद्याओंमें श्रेष्ठतम है—क्योंकि इसके द्वारा ही अमरणधर्मकी प्राप्ति होती है और इसीसे ब्राह्मणके जन्मकी सफलता भी है एवं इस तत्त्वको प्राप्त होकर पुरुष कृतार्थ हो जाता है । दूसरे किसीसे नहीं ।

जबकि उस ब्रह्मतत्त्वके विज्ञानसे ही मोक्षरूप परम-पुरुषार्थकी सिद्धि होती है । इसलिए सबके आत्मरूप परमात्माकी अपने स्व स्वरूपतया जान लेना चाहिए कि वही मैं हूँ, इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिए । ऐसा ही भगवती श्रुतिका कहना है कि - धीर बुद्धिमान् ब्राह्मण उसी तत्त्वको भलीभाँति जान कर उसीमें अपनी बुद्धिको स्थिर करें,

अथेदानीं प्रकृतमनुसरामः यस्मात्प्रमाद एव सर्वानर्थबीजं तस्मात् प्रमादमेवाहं मृत्युं ब्रवीमि। न यमम्। यमं तु पुनरेके विषयविषान्धा अविद्याधिरूढाः स्वात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं पश्यन्तो मृत्युमतो मयोक्तान्मृत्योः प्रमादादन्यं मृत्य्वन्तरं वैवस्वतमाहुः, आत्मावासम् आत्मनि बुद्धौ वसतीत्यात्मावासस्तम्। तथा च मनुः—

यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥

अमृतम् अमरणधर्माणं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मणि स्वात्मभूते रममाणं ब्रह्मनिष्ठमित्यर्थः। श्रूयते कठवल्लीषु—'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति' इति।

अनेक शास्त्रोंके मतमतान्तरोंमें न पड़े; क्योंकि वह तो वाणीका विग्लापनमात्र ही है।' एकमात्र उस आत्मतत्त्वको ही समझो, अन्य सभी बातें छोड़ो और यही जानने योग्य वस्तु है कि अपने स्वरूपमें ही स्थिर रहना और इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानना चाहिए। तथा च श्रीकृष्ण द्वारा गीताशास्त्रमें कहा गया है—संकल्पजनित सभी कामनाओंको निःशेषरूपसे छोड़कर मन द्वारा इन्द्रिय-समूहको सब ओरसे वशीभूत कर, धीरे-धीरे वैराग्यको प्राप्त करे, धैर्यको धारण करता हुआ बुद्धि द्वारा मनको परमात्मामें स्थिर कर अन्य कुछ भी चिन्तन न करे।' इस प्रकार प्रसंगसे समस्त शास्त्रोंका साररूप अर्थ संक्षेपमें प्रदर्शित किया है।

अब हम प्रकृत विषयका अनुसरण करते हैं। जिससे कि प्रमाद सभी अनर्थोंका बीज है। इसलिए मैं प्रमादको ही मृत्यु कहता हूँ। साक्षात् यमराज मृत्यु नहीं हैं। अन्य कुछ लोग विषयवासनारूप विषसे अन्धे हुए अविद्यादि दोषसे विभ्रान्त अपने आपसे ही भिन्न किसी दूसरेकी ही मृत्युके रूपमें देखनेवाले, मेरे द्वारा विवेचित प्रमादनामक मृत्युसे भिन्न विवस्वान्‌के पुत्र यमदेवको ही मृत्यु मानते हैं। आत्मस्वरूप प्रज्ञामें निवास होनेके कारण, यमराजको साक्षात् आत्मावास शब्दसे कहा जाता है। इस विषयमें भगवान् श्रीमनुके द्वारा विवेचन किया गया है—

यमदेव सूर्यवंशी राजा है जो कि तेरे हृदय देशमें विराजमान हैं यदि उससे कोई विवाद नहीं तो तू गंगा भी मत जा और मत कुरुक्षेत्र-तीर्थ भी जा।' तात्पर्य यह है कि अमृत-अमरणधर्मा और ब्रह्मचर्य अर्थात् अपने स्वरूप परमब्रह्ममें रमण करनेवाला विद्वान् पुरुष ब्रह्मनिष्ठ होता है इस विषयमें कठोपनिषद्का कथन है कि हर्ष एवं शोकसे रहित उस सर्वव्यापक

किं च पितृलोके राज्यमनुशास्तीति देवः। कथमनुशास्ति ? शिवः सुखप्रदः शिवानां पुण्यकर्मणाम्, अशिवोऽसुखप्रदोऽशिवानां पापकर्मणाम् ॥ ६ ॥

एवं तावत् 'प्रमादं वै मृत्युम्' इति मृत्युरूपं निर्धारितम्। इदानीं तस्यैव कार्यात्मनावस्थानं दर्शयति—

आस्यादेष निःसरते नराणां क्रोधः प्रमादो मोहरूपश्च मृत्युः।
अहंगतेनैव चरन् विमार्गान्न चात्मनो योगमुपैति किंचित् ॥ ७ ॥

यः प्रमादाख्योऽज्ञान मृत्युः स प्रथममास्यात्मना परिणमते। आस्योऽभिमानात्मकोऽहंकारः। तथा चोक्तम्—

सर्वार्थाक्षेपसंयोगादसुधातुसमन्वयात् ।
आस्य इत्युच्यते घोरो ह्यहंकारो गुणो महान् ॥

एवमहंकारात्मना स्थित्वा ततोऽहंकारान्निःसरते निर्गच्छति कामात्मना। ततः कामः स्वविषये प्रवर्तमानः प्रतिहतः क्रोधः प्रमादो मोहरूपश्च

परमदेवको मुझसे अतिरिक्त कौन जान सकता है। और भी वह देव पितृलोकके राज्यका प्रशासन करता है। कैसे वह प्रशासन करता है? शिव-सुखप्रद पुण्यात्मक शुभकर्मोंको करनेवालेके लिए सुखप्रदायक है और पापात्मक अशुभकर्मोंको करनेवालेके लिए दुःख देता है ॥ ६ ॥

इस प्रकार सर्वप्रथम 'प्रमाद ही मृत्यु है' ऐसा मृत्युका स्वरूप निरूपित किया है, अब उसकी कार्यत्वरूपसे स्थिति दिखायी जा रही है—

यह मृत्यु मनुष्योंके अहंकाररूपी मुखसे निकलता है और वह क्रोध, प्रमाद एवं मोहके रूपमें परिणत हो जाता है। इसलिए अहंकारके वशीभूत होकर विपरीत मार्गोंका आचरण करता हुआ यह प्राणी आत्म-सम्बन्धी लेशमात्र भी योग प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

जो प्रमादनामक अज्ञानात्मक मृत्यु है वह सबसे पहले मनुष्योंके मुखरूपसे परिणत होता है। 'आस्य' शब्द अभिमानात्मक अहंकारका द्योतक है। इस विषयमें कहा गया है कि 'समस्त पदार्थ-समूहके विनाशके योगसे एवं 'असु' धातुके समन्वयसे 'आस्य' ऐसा कहा जाता है; क्योंकि घोर अन्धकार एक महान् गुण है।' इस प्रकार अहंकाररूपसे अवस्थित होकर पुनः यह अहंकारसे कामरूपमें उदित हो जाता है। इससे अपने विषयमें प्रवर्तित हुआ यह काम प्रतिहत होनेपर भी क्रोध, प्रमाद और मोहका स्वरूप धारण कर लेता है।

भवति। ततोऽहंगतेनाहंरूपमापन्नेनाहंकाराद्यात्मना स्थितेनाज्ञानेन तदात्मभावमापन्नः, 'ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं वैश्योऽहं शूद्रोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता' इत्येवमात्मको रागद्वेषादिसमन्वितश्चरन् विमार्गान् श्रौतस्मार्तविपरीतान् मार्गान् न चात्मनः परमात्मनो योगं समाधिलक्षणमुपैति किंचिदपि।

अथवाविद्याकामकर्माणि संसारस्य प्रयोजकभूतानि। पूर्वत्र 'मोहो मृत्युः सम्मतः' इत्यनेनाग्रहणान्यथाग्रहणात्मिका अविद्या दर्शिता। उत्तरत्र 'कर्मोदये' इति कर्म वक्ष्यति।

अथेदानीं कामोऽभिधीयते—अस्यन्ते क्षिप्यन्ते अनेन संसारे प्राणिन इत्यास्यः कामः। अथवा—आस्यवदास्यं सर्वजग्धृत्वात्। तथा चोक्तं भगवता–'काम एष क्रोध एषः' इति। एष मृत्युरास्यात्मना स्थित्वा ततः क्रोधात्मना विपरिणमते। उक्तं च—'कामात्क्रोधोऽभिजायते' इति। ततोऽहंगतेनाहंकारा-

अत एव अहंभावसे ग्रस्त हुआ--अहंकारात्मक मिथ्यात्व धर्मसे युक्त अज्ञानके अधीन होता हुआ यह जीवात्मा तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है और मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं अमुकका पुत्र हूँ तथा इसका मैं प्रपौत्र हूँ, इत्यादि प्रकारसे रागद्वेषोंसे युक्त होकर श्रौत एवं स्मार्तसे विपरीत मार्गोंका अनुगमन करता हुआ यह व्यक्ति आत्मा परमात्मविषयक समाधि योगको थोड़ा-सा भी नहीं प्राप्त कर सकता है।

अथवा संसारके मूलभूत कारण अविद्या, काम एवं कार्यको माना जाये। अतः पूर्व सूत्रमें 'विद्वज्जनोंने मोहको ही मृत्यु स्वीकार किया है।' इससे अग्रहण और अन्यथा ग्रहणात्मिका अविद्याका वर्णन किया गया है और उत्तर सूत्रसे कर्मके उदय होनेपर इस वाक्यमें कर्मसम्बन्धी विवेचन किया जायेगा।

अब प्रस्तुत प्रकरणमें कामनाका प्रतिपादन किया जा रहा है। प्राणीकामनाके वशीभूत हो जाता है इसलिए संसारचक्रमें फेंक दिया जाता है इसीसे कामनाको 'आस्य' कहा जाता है। अथवा सबको भक्षण कर डालता है इसलिए 'आस्य' मुखकी भाँति आस्य है। ऐसा ही भगवान् द्वारा कहा गया है--अग्नि के समान भोगोंसे न तृप्त होनेवाला है और महान् पापी है यह काम ही क्रोध है।' यह मृत्यु आस्यरूपमें स्थित होकर क्रोधरूपमें परिणत हो जाता है। और यह कहा भी गया है--'कामसे क्रोधकी उत्पत्ति हो जाती है।' अत एव यह प्राणी अज्ञान द्वारा अहंभावमें ग्रस्त हुआ अहन्ता और ममताके दर्पणपर प्रति-

पन्नेनाज्ञानेनाहंकार ममकार फलकारूढेन चिदाभासेन चरन् विमार्गान् न चात्मनो योगमुपैति किंचित् ॥ ७ ॥

किंच—

ते मोहितास्तद्वशे वर्त्तमाना इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।
ततस्तं देवा अनु परिप्लवन्ते अतो मृत्युं मरणादभ्युपैति ॥ ८ ॥

तेऽहंकारादिरूपेण स्थितेनाज्ञानेन मोहिताः—देहाद्यात्मभावमापादिताः, तद्वशेऽहंकाराद्यात्मना परिणतप्रमादाख्यमृत्युवशे वर्त्तमाना इतोऽस्मात्प्रेता धूमादिमार्गेण गत्वा तत्र परलोके यावत्सम्पातमुषित्वा पुनराकाशवायुवृष्टि-सस्यान्नशुक्रशोणितादिक्रमेण देहग्रहणाय पतन्ति निपतन्ति । श्रूयते च—'तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' ।

ततोऽनन्तरं पुनर्देहग्रहणावस्थायां तं देवा इन्द्रियाण्यनुसृत्य कर्माणि परिसमन्तात्प्लवन्ते समन्ततः परिवर्तन्त इत्यर्थः । अतोऽस्मात्कारणादिन्द्रिय-

बिम्बित चिदाभासरूप जीवत्वधर्मसे सम्बन्धित होकर विरुद्ध मार्गोंका अनुगमन करता है इसी कारण परमात्मविषयक किञ्चित् भी ज्ञानयोगको प्राप्त नहीं कर पाता है ॥ ७ ॥

ऐसा ही है—

वे कामादिसे विमोहित होकर प्रमादात्मक मृत्युके अधीन रहते हुए इस लोकसे चले जानेपर पुनः इस जन्म-मरणरूप चक्रमें गिर जाते हैं अतः इन जीवात्माकी अपनी इन्द्रियाँ भवाटवीमें घूमाती है । और बारम्बार जन्म-मरणको ही प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

जो प्राणी अहंकारादिमें स्थित हुए अज्ञान द्वारा विमोहित होते हैं वे शरीरादिमें मिथ्या आत्मभावको प्राप्त हुए उसके वशीभूत—अहंकारादिसे परिणत प्रमादरूप मृत्युके अधीन हो जाते हैं और इस लोकसे धूमादिमार्ग द्वारा प्रस्थान कर परलोकमें पतन होनेतक निवास कर पुनः आकाश, वायु, वृष्टि, शस्त्र, अन्न एवं शुक्र-शोणितादि क्रमसे देह धारण करनेके निमित्त लौट आते हैं । ऐसा भगवती श्रुतिने भी कहा है—कि 'उस दिव्यलोकमें पतन होने पर्यन्त रह कर पुनः इसी मार्गसे वापस चले आते हैं ।

इसके पश्चात् पुनः शरीर ग्रहण करनेकी अवस्थामें उस प्राणीके कर्मोंके अनुसरण कर इन्द्रियाँ चारों ओर भटकाती हैं । अतः—इसी कारणको लेकर इन्द्रियोंके धर्मोंका अनुसरण करनेसे प्राणी मरणको प्राप्त करता है और उस

गुणानुसरणान्मृत्युं मरणं याति। ततो मरणाज्जन्माभ्युपैति ततो मृत्युम्। एवं जन्ममरणप्रबन्धारूढो न कदाचिन्मुच्यत इत्यर्थः। आत्माज्ञाननिमित्तत्वात्संसारस्य यावत्परमात्मानमात्मत्वेन साक्षान्न जानाति तावदयं तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागद्वेषादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणो मोमुह्यमानः संसरन्नवतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

एवं तावदविद्याकामयोर्बन्धहेतुत्वमभिहितम्। अथेदानीं कर्मणां बन्धहेतुत्वमाह—

कर्मोदये कर्मफलानुरागास्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम्।
सदर्थयोगानवगमात्समन्तात् प्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥ ९ ॥

अमृत्युः कर्मणा केचिदिति कर्मणामृतत्वं भवतीति यन्मतान्तरमुपन्यस्तं तन्निराकरोति—न केवलं कर्मणा अमृतत्व भवति, अपितु कर्मोदये कर्मणामुत्पत्तौ कर्मफलानुरागाः सन्तस्तत्र तस्मिन् कर्मफलेऽनुयान्ति। यस्मात्तत्रैवानु-

मरणसे पुनः जन्मको प्राप्त होता है इस प्रकार अनवरत जन्म-मृत्युको प्राप्त होता रहता है। इस प्रकार जन्म-मरणरूप प्रवाहमें पड़ा हुआ यह जीवात्मा किसी भी प्रकार भवपाशसे छूटता नहीं है, यही तात्पर्य है। आत्माका अज्ञान ही संसारका मूल कारण है।

इसलिए यह जीवात्मा जबतक अपने आत्मस्वरूपसे परमात्माको साक्षात् जान नहीं लेता है तबतक आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविधतापसे आक्रान्त होकर मकरादिकी भाँति रागद्वेषादिधर्मोंसे इतस्ततः आकर्षण किया हुआ मोहापन्न स्थितिमें संसरण करता रहता है ॥ ८ ॥

इस प्रकार सर्वप्रथम अविद्या और कामकी बन्धहेतुताका वर्णन किया गया है। अब कर्मोंकी बन्धहेतुताका विवेचन किया जा रहा है—

कर्मका उदय होनेपर कर्मजन्य फलसे आसक्त हुए प्राणी उसकी लिप्सामें ही अनुसरण करते हैं, इसलिए मृत्युको पार नहीं कर पाते। सद्वस्तुसे सम्बन्ध न होनेसे ही भोगके अधीन हुआ अनेक योनियोंमें विचरण करता है ॥ ९ ॥

'अमृत्युः कर्मणा किंचित्' इस पूर्वोक्त सूत्रमें कर्म द्वारा अमृतत्त्वकी प्राप्ति होती है जिस मतान्तरका उपस्थापन किया है उसका निराकरण किया जा रहा है—केवल कर्म द्वारा ही अमृतत्त्वकी प्राप्ति नही होती है अपितु कर्मोंके उदय होनेपर—कर्मोंकी उत्पत्ति होनेपर जीवात्मा कर्मजन्य फलमें

यान्ति, अतो न तरन्ति मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणात्मके संसारे परिवर्तन्त इत्यर्थः ।

कस्मात्पुनः कर्मयोदये कर्मफलानुरागस्तत्रैव परिवर्तन्ते ? सदर्थयोगानवगमात् । सदर्थेन योगः सदर्थयोगः परमात्मना योगस्तस्य सदर्थयोगस्य एकत्वस्यानवगमात् स्वमात्मनश्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मभावानवगमादित्यर्थः । समन्तात्समन्ततः प्रवर्तते भोगयोगेन विषयरसबुद्धया देही । यथाह्यन्धो निम्नोन्नतकण्टकस्थलादिषु परिभ्रमति, एवमसावपि विवेकहीनः सर्वत्र विषयसुखाकाङ्क्षया परिभ्रमति ॥ ९ ॥

किञ्च—

तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां मिथ्यार्थयोगेऽस्य गतिर्हि नित्या ।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात् ॥१०

यद्रागाभिभूतस्य इन्द्रियाणां विषयेषु प्रवर्त्तनं तन्महामोहनम् । एतदुक्तं भवति—यस्य विषयेषु अवास्तवबुद्धिस्तस्येन्द्रियाणि विषयेषु न प्रवर्तन्ते । तस्य

आसक्त पुरुष उस कर्मफलका ही अनुगमन करते हैं, इसलिए मृत्युसे छुटकारा नहीं हो सकता है जिससे अनवरत जन्म मरणरूप संसारचक्रमें घूमते रहते हैं ।

तब फिर क्यों वे कर्मोदय होनेपर कर्मफलमें आसक्त होकर उसीमें घूमते हैं ? सद्वस्तुके साथ सम्बन्धका ज्ञान न होनेसे अर्थात् सद्रूप पदार्थसे योग-तादात्म्यरूप सम्बन्ध-परमात्माके साथ एकत्वरूप बोध ही योग कहलाता है । अत एव उस सद्रूप परमात्माके साथ एकत्वका बोधाभाव—अपने स्वरूपभूत सच्चिदानन्दघन अद्वितीय ब्रह्मभावका बोध न होनेके कारण संसारचक्रमें विचरण करता है; क्योंकि विषयरस बुद्धिसे भोगाधीन हुआ यह देहधारी प्राणी अनेक विध योनियोंमें संसरण करता है । जैसे अन्धा व्यक्ति निम्न-उन्नत कण्डक-जालसे व्याप्त स्थलोंमें भटक जाता है वैसे यह जीवात्मा विवेकशून्य होकर विषय वासनाजन्य सुखकी आकांक्षासे संसरण करता रहता है ॥ ९ ॥

वस्तुतः वह भोगविषयक प्रवृत्ति ही इन्द्रियोंकी महामोह दशा है; क्योंकि इस जीवात्माकी मिथ्या वस्तुओंके योगमें स्वभावतः रागात्मकप्रवृत्ति होती है इसलिए मिथ्यावस्तुके संयोगसे अभिहत होकर सर्वत्र विषयोंका चिन्तन करता हुआ यह जीवात्मा उन्हींकी उपासना करता रहता है ॥ १० ॥

विषयासक्त प्राणीका जो इन्द्रियोंके विषयोंमें रागात्मक प्रलोभनका होना देखा जाता है, वही महामोह है । यह कहा जाता है कि जिस विवेकी

विषयेषु प्रवृत्त्यभावात् प्रत्यगात्मन्येव प्रवृत्तिः, ततश्च मोहनिवृत्तिः । यस्य विषयेषु वास्तवबुद्धिस्तस्येन्द्रियाणां पराग्भूतेषु विषयेषु प्रवृत्तत्वान्न स इमं सदद्वितीयं प्रत्यग्भूतं परमात्मानमात्मत्वेन साक्षाज्जानाति । तथा चोक्तम्—स्त्रीपिण्डसम्पर्ककलुषितचेतसो विषयविषान्धा ब्रह्म न जानन्ति, इति ।

ततश्च महामोहेन पुनः पुनर्विषयेषु प्रवृत्तिः । तथा चाह भगवान् मनुः—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।। इति ।।

ततश्च मिथ्यार्थैरविद्याकल्पितैः शब्दादिविषयैर्योगो भवति । तस्मिन् मिथ्यार्थयोगेऽस्य देहिनो गतिः संसारगतिर्नित्या नियता । प्रसिद्धं ह्येतत्—स्वात्मभूतं परमात्मानमनवगम्य विषयेषु प्रवर्त्तमानाः पराभूतास्तिर्यगादियोनि प्राप्नुवन्तीति । तथा च बह्‌वृचब्राह्मणोपनिषदि—'या वैता इमाः

पुरुषकी विषयोंके प्रति अपारमार्थिक बुद्धि बनी रहती है उसकी इन्द्रियाँ विषयोंके प्रति आकर्षित नहीं होती हैं इसलिए उस पुरुषकी प्रत्यगात्मामें ही प्रवृत्ति होती है और इससे उसका मोह दूर हो जाता है। परन्तु जिस प्राणीकी विषयोंके प्रति परमार्थ बुद्धि बनी हुई है अतः उसकी इन्द्रियाँ बाह्य-विषयोंमें जाती है इसीसे वह इस सद्रूप अद्वितीय प्रत्यद्रूप परमात्माको साक्षात् आत्मभावसे नहीं जान पाता है। ऐसा ही कहा गया है कि 'जिन पामर प्राणीका चित्त पिण्डात्मक शरीरके संसर्गसे मलिन हो गया है वे विषय-वासनारूप विषसे अन्धे हुए ब्रह्मभावको हृदयंग नहीं कर पाते हैं। इसलिए महामोहवशात् प्राणी बारम्बार विषयोंमें आसक्त होकर प्रवृत्त होता है। ऐसा ही भगवान् श्रीमनुने उल्लेख किया है—'कामनाओंके उपभोगसे काम शान्त नहीं होता है अपितु अग्निमें आहूति डालनेपर जैसे अग्नि अधिक भभक उठती है वैसे कामनाओंके उपभोगसे तो कामना बढती ही जाती है, घटती नहीं है।'

इस प्रकार मिथ्या वस्तुओंसे-अविद्या द्वारा प्रकल्पित शब्दादि विषयोंसे संयोग हो जाता है और इस देहधारी जीवात्माकी उन मिथ्यावस्तुओंसे सम्पर्क हो जानेपर संसारके भोगोंके प्रति राग-विषयक प्रवृत्तिका होना निश्चित है। जबकि यह देखा जाता है कि अपने स्वरूपभूत परमात्माका साक्षात्कार न होनेके कारण विषयोंके प्रति आसक्त बुद्धि होती है और इससे पराभूत होकर तिर्य-गादि योनियोंमें जन्म लेने पड़ते हैं।' और ऐसा ही बह्‌वृच ब्राह्मणोपनिषद्में वर्णन किया गया है कि—'जिन इन प्रजाओंके द्वारा धर्मका अतिक्रमण हुआ

प्रजास्तिस्रोऽत्यायमायंस्तानीमानि वयांसि वङ्गावगधाश्चेरपादाः' इति। वक्ष्यति च—'कामानुसारी पुरुषः कामाननुविनश्यति' इति।

कस्मात्पुनर्मिथ्यार्थंयुक्तस्य गतिर्हि नित्येति? तत्राह—मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा। मिथ्या भूतविषयसंयोगेनाभिहतान्तरात्मा यस्य सः अभिहतस्वाभाविकब्रह्मभावः स्मरन् शब्दादिविषयान् तानेवोपास्ते न परमात्मानं समन्तात् समन्ततः॥ १०॥

ततः किमिति चेत्तत्र यद्भवति तच्छृणु—

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति चैनं कामक्रोधौ गृह्य चैनं च पश्चात्।
एतान् बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम्॥११

अभिध्या विषयध्यानं प्रथमं हन्ति विनाशयति स्वरूपात्प्रच्युतं करोति ततो विषयध्यानाभिहतमेनं विषयरससंनिधौ शीघ्रं प्रतिगृह्य कामश्च हन्ति। ततः कामाभिहतमेनं प्रतिगृह्य क्रोधश्च हन्ति।

है वे लोग ही पशु-पक्षी, वनवृक्ष, औषधियाँ और शूद्र सर्पादि जन्तुओंके रूपमें जन्म लिये हुए हैं।' ऐसा ही आगे वर्णन किया जायेगा कि 'कामनाओंका अनुसरण करनेवाला व्यक्ति उनके पीछे विनष्ट भी हो जाता है।' फिर यह कैसे कहा है कि मिथ्या वस्तुओंमें जीवात्माओंकी प्रवृत्तिका होना निश्चित है? इसका समाधान करते हैं—मिथ्यावस्तुओंके सम्पर्कसे जीवात्मा अभिहत हो गया है। मिथ्याभूत वस्तुओंके संसर्गसे जिसका अन्तरात्मा अभिहत—घायल हो गया है ऐसा स्वाभाविक ब्रह्मभावसे अभिहत हुआ प्राणी शब्दादि विषयोंका चिन्तन करता हुआ उन्हींका सेवन करता रहता है, परमेश्वरकी भक्ति नहीं करता है॥ १०॥

यदि इससे क्या होता है तो इससे जो क्षति होती है उसे तुम सुनो, किन्तु सबसे पहले इस जीवात्माको विषयोंका स्मरण ही मार देता है; पश्चात् इसे काम और क्रोध अपने हस्तगत कर विनष्ट कर देते हैं फिर इन मूढ प्राणियोंको मृत्युके निकट पहुँचा देते हैं किन्तु धीर पुरुष मृत्युको पार कर जाते हैं॥ ११॥

सर्वप्रथम तो इस मूढ प्राणीको विषयोंका स्मरण ही विनष्ट कर देता है अर्थात् अपने स्वरूपसे प्रच्युत कर देता है। इसके पश्चात् विषय-ध्यानसे अभिहत हुए इसको अविलम्ब ही विषयोंकी संविधिमें लाकर काम नष्ट कर देता है, इस प्रकार कामसे अभिहत हुए व्यक्तिको क्रोध मार देता है। वे ये अभिध्यादि

तदेतेऽभिध्यादय एतानभिध्याकामक्रोधवशंगतान् बालानविवेकिनो मूढान् मृत्यवे प्रापयन्ति क्षिपन्ति। श्रूयते च कठवल्लीषु—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते
मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ इति ॥

धीरास्तु पुनर्धैर्येण विषयान् जित्वा परमात्मानमात्मत्वेनावगम्य तरन्ति मृत्युम्। श्रूयते च — 'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' इति ॥ ११ ॥

कथं पुनर्धीरास्तु धैर्येण विषयान् जित्वा मृत्युं तरन्तीत्यत आह—

योऽभिध्यायन्नुत्पतिष्णून्निहन्यादनाचारेणाप्रतिबुध्यमानः
स वै मृत्युं मृत्युरिवात्ति भूत्वा ह्येवंविद्वान् योऽभिहन्तीह कामान् ॥१२॥

योऽभिध्यायन्, अनित्याशुचिदुःखानुविद्धया उत्पतिष्णून् उत्पत्योत्पत्य

विषयस्मरणादिरूप अभिध्या काम और क्रोधके अधीन हुए इन बाल-विवेक-हीन अर्थात् मूढ प्राणियोंको मृत्युको निकट पहुँचा देते हैं अर्थात् इन जीवोंको मृत्युके मुखका ग्रास बना देते हैं। इस विषयमें कठोपनिषद्में सुना जाता है—

ज्ञानहीन पुरुष बाह्यविषयोंका अनुसरण करते हैं इसलिए वे मृत्युके विस्तृत पाशोंसे बँधे रहते हैं किन्तु तत्त्ववेत्ता पुरुष अमरत्वको ध्रुव-नित्य अचल जान कर लौकिक पदार्थोंकी इच्छा नहीं करते हैं।'

किन्तु धीर पुरुष हृदयमें धैर्यको धारण कर समस्त विषयोंको जीत कर परमात्माको अपने स्वरूपसे अवगत कर मृत्युके पार हो जाते हैं। और ऐसा सुना भी जाता है कि उस परमतत्त्वका साक्षात्कार कर ज्ञानी पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है ॥ ११ ॥

किन्तु धीर पुरुष धैर्यसे विषयोंको जीत कर कैसे मृत्युके पार हो जाते हैं? इस पर कहते हैं--जो विवेकी पुरुष अनित्य विनाशशील विषयोंको विवेकसे छोड़ देता है तथा अनादरपूर्वक उनके विषयमें विचार भी नहीं करता है एवं जो युक्तिविचारपूर्वक इसी शरीरमें ही कामनाओंको भी विनष्ट कर देता है, वह मृत्युके समान मृत्युको भक्षण कर जाता है ॥ १२ ॥

जो विवेकी पुरुष विषयोंका स्मरण करता हुआ अर्थात् जो उत्पन्न होकर तत्क्षणमेव विनष्ट हो जाते हैं उन शब्दादि विषयोंको अनित्य, अशुचि

पतन्तीत्युत्पतिष्णवो विषयास्तान्निहन्यात् परित्यजेत्। अनाचारेण अनादरेण अमेध्यदर्शन इव अप्रतिबुध्यमानः पुनः पुनरचिन्तयन् स वै पुरुषो मृत्योरेव मृत्युर्भूत्वा मृत्युरिवात्ति मृत्युम्। उक्तं च—विषयप्रतिसंहारं यः करोति विवेकतः। मृत्योर्मृत्युरिति ख्यातः स विद्वानात्मवित्कविः' इति ॥ १२ ॥

एवमनित्यादिरूपेण विद्वान् सन् अनादरादिना अभिहन्ति कामान्। यः पुनरनादरादिना नाभिहन्ति स किं करोतीत्याह—

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत्किंचित्पुरुषो रजः ॥ १३ ॥

यस्तु पुनर्विषयाभिध्यानेन कामानुसारी भवति स कामाननु विनश्यति कामविषये नष्टे कामाननु कामैः सह विनश्यति। अनित्याः कामगुणाः प्रतिक्षणं विनाशान्विताः, तद्वत्कामो विशीर्णो भवति।

और दुःखसे संपृक्त समझ कर छोड़ देता है। अनाचारसे अर्थात् अशुचि वस्तुके देखनेकी भाँति अनादरपूर्वक पुनः उनके विषयमें विचार भी नहीं करता है वस्तुतः वह बुद्धिमान् पुरुष मृत्युका भी मृत्यु बन कर मृत्युकी भाँति मृत्युको भी भक्षण कर लेता है। इस विषयमें कहा गया है कि—जो बुद्धिमान् पुरुष विवेकसे विषयोंका संहार कर देता है, वह विद्वान् आत्मवित् मनीषी मृत्युका भी मृत्यु कहा जाता है ॥ १२ ॥

इस प्रकार अनित्यादि दोषोंसे परिशीलन करता हुआ यह तत्त्वज्ञ पुरुष अनादरपूर्वक कामनाओंको छोड़ देता है, किन्तु जो व्यक्ति उन विषयोंका अनादरपूर्वक त्याग करनेमें समर्थ नहीं है, वह क्या करता है? इस पर कहते हैं--

विषयोंका अनुगमन करनेवाला व्यक्ति विषयोंके साथ ही विनष्ट हो जाता है, किन्तु जो विद्वान् विषयोंको छोड़कर थोडा-सा भी पापरूप दूषित कर्म करता है वह भी धूल जाता है ॥ १३ ॥

किन्तु जो पामर जन विषयोंका स्मरण करता हुआ विषयोंका अनुगामी बन जाता है वह अपने अभिलषित वस्तुके विनाश हो जानेके साथ-साथ ही नष्ट हो जाता है; क्योंकि कामनाके विषयभूत समस्त वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं और प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, अत एव उन विषय-वस्तुओंकी भाँतिका भी व्यक्ति भी विनाशको प्राप्त हो जाता है।

यस्तु पुनर्विषयदोषदर्शनेन कामान् परित्यजति स कामान् व्युदस्य परित्यज्य विवेकबुद्धया धुनुते ध्वंसयति यत्किंचिदिह जन्मनि जन्मान्तरे च उपार्जितं रजः पुण्यपापादिलक्षणं कर्म ॥ १३ ॥

कथं पुनरस्य देहस्य काम्यमानस्य हेयत्वमित्याशङ्क्याह—

देहोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते ।
गृध्यन्त एव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखाः ॥ १४ ॥

योऽयं भूतानां देहो दृश्यते सोऽप्रकाशः— तमोऽचिद्घनः केवलं नरकः श्लेष्मासृक्पूयकृमिविण्मूत्रपूर्णत्वात् । तथा चाह भगवान् मनुः—

अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मासक्षतजलेपगम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ इति ॥

एवमत्यन्तवीभत्सितं स्त्र्यादिदेहं कमनीयबुद्धया गृध्यन्तोऽभिकाङ्क्षन्त

परन्तु जो विवेकी पुरुष विषयोंमें दोषदर्शन करता है वह विषयोंको सर्वथा त्याग देता है, जो कुछ इस जन्ममें या जन्मान्तरोंमें उपार्जित पुण्य-पापादिरूप संचित कर्म एवं क्रियमाण कर्म है उन सबका विवेकबुद्धि द्वारा ध्वंस कर देता है ॥ १३ ॥

ऐसी स्थितिमें कामनाके विषयभूत इस शरीरका हेयत्व कैसे सिद्ध होगा, इस प्रकार शंका कर उत्तर देते हैं--

यह जो प्राणियों का शरीर दिखायी दे रहा है वह तामसीय और नारकीय है अत एव गर्तकी ओर जानेवाले अन्धे प्राणीकी भाँति विषयलोलुप ही दौड़ते हैं ॥ १४ ॥

यह जो प्राणियोंका शरीर प्रतीत हो रहा है वह अप्रकाशरूप तमोगुणी एवं जडस्वरूपवाला है; क्योंकि वह श्लेष्म, रक्त, पीव, कृमि एवं मल-मूत्रसे संपृक्त है इसलिए यह दृष्टिका विषयरूप यह प्राणियोंका शरीर केवल नारकीय ही है, इस विषयमें भगवान् मनुने कहा है कि--

जबकि यह शरीर हड्डोरूपी कड़ियोंसे जुड़ा हुआ, स्नायुसे बधा हुआ रक्त, मांससे मिश्रित चर्मसे आच्छादित मल-मूत्रसे व्याप्त, जरा एवं शोकसे युक्त व्याधियोंका आश्रयस्थान, अतिकष्टदायी, मालिन्य और अनित्यतादि क्षणभंगुर

एव धावन्ति अनु धावन्ति। गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखाः, यथा अन्धाः कूपादिकं विवेक्तुमशक्ताः कूपादिषून्मुखाः पतन्ति, एवं स्त्र्याद्यभिकाङ्क्षन्तो विषयविषान्धा उन्मुखाः पतन्ति नरकेष्वित्यर्थः ॥ १४ ॥

य एवं गृध्यन्त एव धावन्ति तेषां देहो निरर्थक इत्याह—

अमन्यमानः क्षत्रिय कंचिदन्यं नाधीयते तार्ण इवास्य व्याघ्रः।
क्रोधाल्लोभान्मोहभयान्तरात्मा स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ॥१५॥

यः स्त्र्यादिकमभिकाङ्क्षन्ननुधावति स विषयविषान्धस्तद्व्यतिरिक्तं स्वात्मभूतं परमात्मानमनन्यमानोऽप्रतिबुध्यमानो नाधीयते तद्विषयमध्यात्म-

दोषोंवाला आकाशादि पञ्चमहाभूतोंके आवासरूप माना जाता है इसलिए इस शरीरका सब प्रकारसे भयत्व न रखा जाय।' इस प्रकार अत्यन्त घृणास्पद होनेपर भी पामर प्राणी स्त्री आदिकी देहयष्टिको अतीव रमणीय बुद्धिसे देखते हुए उसकी प्राप्तिके लिए दौड़ते हैं। गर्तकी ओर जावेवाले अर्थात् जैसे अन्धे व्यक्ति मार्गमें स्थित कूपादिकका विवेक करनेमें असमर्थ होनेके कारण चलते-चलते उसमें फिचल जाते हैं। वैसे ही स्त्री आदिके शरीरमें आसक्त बुद्धिवाले विषयोंके विषसे अन्धे हुए हैं अतः वे लोलुपतावशात् नारकीय देहोंमें आसक्त होकर विनष्ट हो जाते हैं ॥ १४ ॥

जो इस प्रकार भोगकी इच्छा रखते हुए शब्दादि विषयोंके प्रति आसक्त होकर दौड़ते हैं उन पामर जीवोंका यह देह धारण करना निरर्थक ही सिद्ध होता है, इस विषयमें कहा जाता है कि—

हे राजन्! जो व्यक्ति विषयोंसे भिन्न किसी परमेश्वरकी सत्ताको न मानता हुआ तद्विषयक अनुसंधानात्मक अध्ययन नहीं करता हैं, उसका शरीर तृणसे निर्मित व्याघ्रकी भाँति व्यर्थ ही है, तेरे शरीरमें जो यह मोह और भय से युक्त अन्तरात्मा है वस्तुतः वही मृत्यु है ॥ १५ ॥

जो मूढ व्यक्ति अपवित्र स्त्री आदिके शरीरकी इच्छा रखता हुआ उसकी प्राप्तिके निमित्त यत्नशील है, वह विषयवासनारूप विषसे अन्धा हो गया है इसलिए व्यक्ति उससे भिन्न अपने आत्मरूप परमात्माको न स्वीकार करनेके कारण अध्ययन अर्थात् परमेश्वर विषयक अध्यात्मशास्त्रका अनुसन्धानात्मक अध्ययन नहीं करता है। यह व्याकरण आदि षडङ्गपूर्वक वेदशास्त्रोंके ज्ञाता उस विषयवासनारूप विषसे अन्धे हुए इस पामर प्राणीका शरीर भी तृण द्वारा विरचित व्याघ्रकी भाँति निरर्थक ही है। इस विषयमें भगवान् वशिष्ठने वर्णन

शास्त्रं नाधिगच्छति। तस्यास्य विषयविषान्धस्य षडङ्गवेदविदुषोऽपि देहस्तृण-निर्मितव्याघ्र इव निरर्थको भवति। तथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

चतुर्वेदोऽपि यो विप्रः सूक्ष्मं ब्रह्म न विन्दति।
वेदभारभराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः॥ इति॥

न केवलं देहो निरर्थकः— य एवंभूतः स एव तस्य मृत्युरित्याह— क्रोधाल्लोभान्मोहभयान्तरात्मा इति। क्रोधलोभाभ्यां हेतुभ्यां मोहभयसमन्वितोऽन्तरात्मा त्वच्छरीरे य एष तवात्मा दृश्यते स एव तव मृत्युः। यः पुनरजितेन्द्रियः क्रोधलोभादिसमन्वितो विषयेषु प्रवर्तते स एव तस्य मृत्युः, विनाशहेतुत्वात्। उक्तं च— 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः, इति॥ १५॥

तर्हि केनोपायेन मृत्योर्विनाश इत्याह—

एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः।
विनश्यते विषये तस्य मृत्युर्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः॥१६॥

किया है कि यदि चारों वेदोंके जाननेवाले होते हुए भी विप्र अत्यन्त गूढ ब्रह्म-तत्त्वका अनुभव नहीं कर पाता है तो वह वेदरूप भारसे लदा हुआ ब्राह्मणके रूपमें गधा ही माना जाता है।' उस प्रकारके प्राणीका केवल देह ही निरर्थक नहीं हैं अपितु जो ऐसा है वही उसके लिए मृत्यु है। क्रोध, लोभ, मोहके भयसे स्वतन्त्र जो तेरी अन्तरात्मा है, इन शब्दोंसे अवगत करते हैं। जो क्रोध और लोभ इन दोनों हेतुओंके द्वारा मोह एवं भयसे युक्त तेरे शरीरमें यह अन्तरात्मा विद्यमान है वही तेरे लिए मृत्यु बन गयी है। किन्तु जो व्यक्ति इन्द्रियोंको न जीत कर क्रोध एवं लोभादिसे सम्बन्धित होकर विषयोंके प्रति आसक्त बुद्धि रखता है वही उसके लिए मृत्यु है; क्योंकि इन्द्रियोंको न जीतना ही अपने विनाश होनेमें मूल कारण है। यह गीता-शास्त्रमें कहा गया है कि 'व्यक्ति अपने आप ही अपना बन्धु है और अपने ही अपना शत्रु है।'

ऐसी स्थितिमें मृत्युकी निवृत्ति कैसे सम्भव होगी? इस पर कहते हैं—

इस प्रकार मृत्युको उत्पन्न होनेवाली समझ कर अपने संविद्रूपमें स्थित होता हुआ उससे भयभीत नहीं होता है अपितु उस परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर मृत्यु स्वयमेव विनष्ट हो जाती है। जैसे मृत्युको प्राप्त होकर मनुष्य मर जाता है॥ १६॥

एवं क्रोधादिरूपेण जायमानं प्रमादाख्यं मृत्युं जननमरणादिसर्वानर्थबीजं विदित्वा क्रोधादीन् भूतदाहीयान् दोषान् परित्यज्याक्रोधादीन् सम्पाद्य ज्ञानेन चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः । तथा च श्रुतिः— 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन इति ।

कस्मात्पुनर्ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योरित्याह—विनश्यते । तस्य ज्ञानिनो विषये गोचरे परमात्मनि साक्षात्क्रियमाणे प्रमादाख्योऽज्ञानमृत्युः । यथा मृत्योर्विषयं संसारमागतो मृत्युनाभितो नष्टो भवति मर्त्यः, एवमात्मवेदिनो विषयमागतोऽज्ञानमृत्युर्नष्टो भवति । उक्तं च ज्ञानमहोदधौ -'ज्ञानसंस्थानसद्भावो ज्ञानाग्निर्ज्ञानवज्रभृत् । मृत्युं हन्तीति विख्यातः स वीरो वीतमत्सरः' इति ॥१६॥

एवं तावत् 'कर्मोदये' इत्यादिना कर्मणां बन्धहेतुत्वमुक्त्वा 'ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः, इति ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमभिहितम् । तत्र चोदयति धृतराष्ट्रः—

इस प्रकार काम, क्रोध आदि अवगुणोंका आश्रय पाकर उत्पन्न होनेवाली प्रमाद नामकी मृत्यु देखी जाती है उसको जन्म-मरणादि समस्त अनर्थोंका बीज जान कर प्राणियोंको सदा संताप पहुँचानेवाले क्रोधादि दोषोंसे जो पुरुष दूर हो जाता है और विवेकपूर्वक क्रोधादिका परित्याग कर सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मभावमें अपनी स्थितिको सुदृढ करता हुआ यह बुद्धिमान् पुरुष साक्षात् मृत्युसे भी भय नहीं खाता है । ऐसा भगवती श्रुतिका भी प्रमाण है— ब्रह्मानन्दको जाननेवाला ज्ञानी किसीसे भी भयभीत नहीं होता ।'

कैसे फिर वह ज्ञानस्वरूपसे स्थित होता हुआ मृत्युसे निर्भय रहता है ? इस पर कहते हैं—परमात्माका उस ज्ञानी पुरुषके दृष्टिका विषय-साक्षात्कार हो जानेपर फिर वह प्रमादसंज्ञक अज्ञानरूप मृत्यु स्वतः ही विनष्ट हो जाती है । जैसे मृत्युके विषयरूप संसारापन्न मनुष्य उससे आक्रान्त होकर मर जाता है । उसी प्रकार आत्मवेत्ता पुरुषके दृष्टिमें आयी हुई अज्ञानात्मक मृत्यु भी विनष्ट हो जाती है । इस विषयमें ज्ञानमहोदधिमें कहा गया है कि 'ज्ञानदशामें स्थित रहनेवाला ज्ञानरूप अग्नि और ज्ञानरूप वज्रको धारण करनेवाले जिसने भी मृत्युका विनाश कर डाला है और यह प्रसिद्ध भी है जिसमें मत्सरादि दोषोंका अभाव है इसलिए वह वीर पुरुष कहलाता है ।'

इस प्रकार इतने अंशपर्यन्त 'कर्मोदये' इत्यादि सूत्रसे कर्मों की बन्ध-हेतुताका विवेचन कर 'ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः' इससे मोक्षधर्मकी प्राप्तिमें ज्ञानकी ही हेतुता वर्णित है । अब आगे धृतराष्ट्र जिज्ञासा करते हैं—

धृतराष्ट्र उवाच

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान् द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान्।
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदा एतद्विद्वान्नैति कथं नु कर्म ॥१७॥

ननु कथं कर्मणां बन्धहेतुत्वम् ? यावता यानेवाहुरिज्यया ज्योतिष्टोमादिना साधुलोकान् साधुभिर्धार्मिकैरारूढान् पुण्यतमान् पवित्रान् सनातनान् नित्यान्। तेषां ब्रह्मलोकपर्यन्तानां परार्थं परमपुरुषार्थत्वं कथयन्ति इह अस्मिन् संसारमण्डले वेदाः। एतद् लोकानां परमपुरुषार्थत्वं विद्वान् कथं नु साधनं कर्म नैति न गच्छति नानुतिष्ठतीत्यर्थः। अथवा, एतद् ब्रह्मलोकपर्यन्तानां लोकानां साधनभूतं कर्म विद्वान् ब्रह्मवित् कथं नैति नानुतिष्ठतोति ॥ १७ ॥

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र तथार्थजातं च वदन्ति वेदाः।
स नेह आयाति परं परात्मा प्रयाति मार्गेण निहन्त्यमार्गान् ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—ब्राह्मणोंके लिए जिन पुण्यतम और सनातन शाश्वत लोकोंकी प्राप्ति कही गयी है और यहाँ वेद उन्हीं लोकोंकी प्राप्ति कर लेना ही परम-पुरुषार्थ भी बताते हैं। अतः तत्त्ववेत्ता पुरुष यज्ञादि कर्मंका अनुष्ठान क्यों नहीं करता है ॥ १७ ॥

अच्छा तो, कर्मोंकी बन्धहेतुता कैसे सिद्ध होती है ? जबकि श्रुतियोंने ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंके द्वारा द्विजोंके लिए जिन पुण्यतम-पवित्र एवं शाश्वत सनातन साधुलोकोंकी अर्थात् धार्मिक पुरुषों द्वारा प्राप्त होनेवाले लोकोंके विषयमें विवेचन किया है। वेद उन ब्रह्मलोकपर्यन्त लोकोंका इस संसार-मण्डलमें परमपुरुषार्थरूपसे प्रतिपादन करते हैं। जब यह पुरुष उन लोकोंका परमपुरुषार्थ जानता हुआ भी उनकी प्राप्तिके साधनभूत यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान क्यों नहीं करता है ? अथवा यह तत्त्ववेत्ता पुरुष ब्रह्मलोकपर्यन्त लोकोंको प्राप्तिके साधनभूत कर्मंको जानता हुआ भी क्यों अनुष्ठान आरम्भ नहीं करता है ? ॥ १७ ॥

ऐसा प्रश्न करनेपर भगवान् श्रीसनत्सुजातने कहा है कि—

श्रीसनत्सुजात बोले—इस प्रकार ज्ञानहीन प्राणी ही यज्ञादि कर्मोंमें प्रवृत्त होता है और वेद उसके प्रयोजनको भी दिखाते हैं किन्तु आत्मवेत्ता कर्ममार्गका अनुसरण नहीं करता है वह ज्ञानमार्गसे भिन्न सभी मार्गोंकी उपेक्षा कर देता है और ज्ञानमार्ग द्वारा अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥ १८ ॥

सत्यम्, एवमेव ब्रह्मलोकादिसाध्यं सुखं परमार्थं मन्यमानो विषय-विषान्धो ह्यविद्वानुपयाति तत्र तस्मिन् ब्रह्मलोकादिसाधनभूते कर्मणि न विद्वान्, अविद्यादिदोषदर्शनात् । तथा च बृहदारण्यके— 'अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जनाः' ॥ इति

तथार्थजातं च प्रयोजनजातं च तस्यैवाविदुषो वदन्ति वेदाः । यस्माद-विदुष एव वदन्ति न विदुषः, तस्मान्नेह स विद्वान् ब्रह्मलोकाद्यनित्यसुखे तत्साधने वा कर्मणि आयाति प्रवर्तते । किं तर्हि कुरुते ? तत्राह - परमात्मान-मात्मत्वेनावगम्य परात्मा सन् ब्रह्मैव सन् परं प्रयाति । मार्गेण निहन्ति अमा-र्गान् संसारहेतुभूतानात्मनो विरुद्धमार्गान् धर्माधर्मोपासनारूपान् ।

अथवा, 'एवं हि विद्वानुपयाति तत्र' इति पाठे सगुणब्रह्मविद्वान् तत्र ब्रह्मलोकादावुपासनाफलमुपयाति प्राप्नोति । तथार्थजातं च अस्य वदन्ति वेदाः ।

यह सत्य है, किन्तु ब्रह्मलोकादिसे प्राप्त किये जानेवाले सुखको पार-माथिकरूपमें स्वीकार करनेवाले विषयवासनारूप विषसे जो अन्धा हो गया है; जबकि वह पामर जीवात्मा ही ब्रह्मलोकादिकी प्राप्तिके साधनभूत उस कर्ममें प्रविष्ट होता देखा जाता है किन्तु ज्ञानी पुरुष उस कर्ममें प्रविष्ट नहीं होता है । इसलिए कि विद्वान् पुरुषको उस कर्ममें अविद्यादि दोष दिखायी देता है, इसी कारण उस कर्मके प्रति नहीं जाता है । ऐसा ही बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है कि 'वे अज्ञानरूपतमसे आच्छादित आनन्दरहित लोक हैं, अल्पज्ञ एवं ज्ञानहीन पुरुष ही मरणोत्तर उन्हीं लोकोंमें जाते हैं ।'

तथा अल्पज्ञ व्यक्तिके लिए वेद अर्थजात-प्रयोजन समूहका विवेचन करते हैं; जबकि अज्ञानी पुरुषके लिए वेद प्रतिपादन करते हैं, विद्वान् ज्ञानी पुरुषको उनकी अपेक्षा नहीं है । इसलिए वह विद्वान् पुरुष यहाँ—ब्रह्मलोकादि विषयक अनित्य-क्षणभङ्गुर सुखमें अथवा उस सुखकी प्राप्तिके साधनभूत कर्म-मार्गमें प्रविष्ट नहीं होता है । तब फिर वह क्या करता है ? इसका उत्तर देते हैं—परमब्रह्म परमात्माको अपने आत्मस्वरूपसे जान कर परात्मा-परमात्माके साथ तादात्म्यभाव सम्पन्न कर वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है और अपने ज्ञानमार्गके द्वारा ज्ञानहीन मार्गोंसे निवृत्त हो जाता है अर्थात् आत्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिए संसारके हेतुभूत धर्म-अधर्म और उपासनासे विपरीत मार्गोंसे दूर हो जाता है ।

अथवा 'एवं हि विद्वानुपयाति तत्र' इस श्लोकके अनुसार यदि मूल पाठका अर्थ यह लिया जाय कि साकार परमात्माका उपासक विद्वान् उस

कीदृशं वदन्ति ? स विद्वान् इह अस्मिन् लोके कर्मीव नायाति न जायते, किन्तु मार्गेण ब्रह्मोपासनया अमार्गान् विरुद्धमार्गान् निहन्ति। एवं तत्र गत्वा संसारहेतून् अमार्गान् निहत्य परात्मा ब्रह्मात्मा सन् कालेन परं ब्रह्म प्रयातीत्यर्थः ॥ १८ ॥

एवं तावत्प्रमादाख्यस्याज्ञानस्य मृत्युत्वमप्रमादस्य स्वरूपावस्थानलक्षणस्यामृतत्वम् 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इत्यादिना दर्शयित्वा 'आस्यादेष निःसरते नाराणाम्' इत्यादिना 'स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः' इत्यन्तेन तस्यैव कार्यात्मना परिणतस्य सर्वानर्थहेतुत्वं प्रदर्शयित्वा, कथमस्य मृत्योर्विनाशः? इत्याशङ्क्य 'एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः' इत्यात्मज्ञानेन मृत्युविनाशं दर्शयित्वा 'यानेवाहुरिज्यया' इत्यादिना ब्रह्मलोकादेः पुरुषार्थत्वमाशङ्क्य 'एवं ह्यविद्वान्' इत्यादिना तेषामविद्यावद्-

ब्रह्मलोकादिमें उपासनाका फल प्राप्त करता है ऐसी स्थितिमें वेद उसके लिए प्रयोजनोंका प्रतिपादन करते हैं। कैसे वेद प्रयोजनोंका वर्णन करते हैं? वह विद्वान् पुरुष यहाँ—इस मर्त्यलोकमें कर्मकाण्डीकी भाँति नहीं लौट कर आता है अर्थात् कर्मकाण्डीके समान वह ज्ञानी पुरुष इस लोकमें जन्म ग्रहण नहीं करता है; क्योंकि वह ज्ञानसे मुक्त हो जाता है इसलिए कि वह परमात्माकी उपासनासे ज्ञान विरुद्ध कर्मोपासनादिरूप विपरीत मार्गोंको विनष्ट कर देता है। इस प्रकार वह तत्त्वदर्शी ब्रह्मलोकादिमें पहुँच कर संसारकी प्राप्तिमें साधनभूत विपरीत मार्गोंका अतिक्रमण कर परमात्मा-ब्रह्मभावमें अवस्थित हुआ प्रारब्ध कर्म क्षयानन्तर परमब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

इस प्रकार 'मैं तो प्रमादको ही मृत्यु कहता हूँ।' इस श्लोकानुसार सबसे पहले प्रमादनायक अज्ञानका मृत्युत्व और अपने आत्मस्वरूपमें अवस्थानरूप अप्रमादका अमृतत्व निर्देश कर 'यह मृत्यु मनुष्योंके मुखरूप अहंकारसे निकलता है।' इस अंशसे तथा 'जो तेरे शरीरमें प्रमाद बैठा हुआ है, वही यह मृत्यु है।' इस प्रकार श्लोकके अन्तिम अंशसे उस मृत्युको ही कार्यरूपसे परिणत हुआ समस्त अनर्थोंका मूलकारण दिखलाया है। कैसे इस मृत्युका विनाश सम्भव हो सकता है? यह सूचित करते हुए 'यज्ञ द्वारा जिन पुण्यतम लोकोंकी प्राप्ति कही गयी है।' इस अंशसे ब्रह्मलोकादिके विषयमें परमपुरुषार्थत्वकी आशंका उपस्थित कर 'इस प्रकार ज्ञानहीन प्राणीकी विषयोंमें आसक्ति हैं इसीसे वे कर्मोंके प्रति जाते भी हैं।' इत्यादि युक्तिसे कर्मकाण्डी व्यक्ति अविद्यासे सम्बन्धित रहता है अतः उनका अपुरुषार्थत्वके

विषयत्वेनापुरुषार्थत्वमुक्त्वा 'परं परात्मा प्रयाति मार्गेण, इति ज्ञानमार्गेण मोक्ष उपदिष्टः । तत्र 'परं परात्मा प्रयाति, इति जीवपरयोरेकत्वमुक्तम् । तदसहमानश्चोदयति धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण ।
किं वास्य कार्यमथवासुखं च तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत् ॥१९॥

ननु यदि स एव सत्यादिलक्षणः परमात्मा क्रमेणाकाशादिधरित्र्यन्तं सृष्ट्वा तदनुप्रविश्यान्नमयाद्यात्मना स्थितः संसरति चेत्, कोऽसौ तं सत्यादिलक्षणमजं पुराणं संसारे नियुङ्क्ते प्रेरयति । किमन्येन, स्वयमेवेति चेत्, किं वास्य नानायोनिषु प्रवर्तमानस्य कार्यं प्रयोजनम् ? अथवा नानायोनिष्वप्रवर्तमानस्य तूष्णींभूतस्य स्वे महिम्नि स्थितस्य संसाराननुप्रवेशेऽसुखम् अनर्थजातं वा किं

विषयमें विवेचन कर, ज्ञानमार्ग द्वारा परमब्रह्म परमात्मासे तादात्म्य स्थापित कर लेता है ।' इस अंशसे जीवात्मा एवं परमात्माकी अभिन्नताका प्रतिपादन किया है । धृतराष्ट्र उसकी बुद्धिमें धारण न करनेके कारण प्रश्न करते हैं—

धृतराष्ट्रने कहा कि—यदि यह स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् क्रमसे उस परमब्रह्म परमात्मामें अवस्थित है तो अजन्मा-अविनाशी पुराण पुरुषको कौन प्रेरित करता है अथवा इसका क्या कार्य था अथवा इसकी कौन-सी दुःखद स्थिति थी ? हे विद्वान् ! उक्त सब विवरण मेरे प्रति यथावत् कहिये ॥ १९ ॥

अच्छा तो, यदि वह सत्य-ज्ञानादि लक्षणसे युक्त परमात्मा ही आकाश-तत्त्वसे लेकर पृथिवी-तत्त्वपर्यन्त क्रमशः सर्वत्र प्रसृत होकर जगत्का सृजन करता है और उसमें प्रविष्ट होकर अन्नमयादि कोषरूपसे स्थित हुआ संसरण भी करता है, तो वह कौन है ? जो इस संसारमें सत्य-ज्ञानादिलक्षणवाले अज-अविनाशी परमात्माको नियुक्त करता है, क्या वह किसी व्यक्ति द्वारा प्रेरणाको पाकर सब प्रपञ्चजाल फैलाता है ? यदि वह स्वतः इस प्रपञ्चमें प्रवृत्त होता है ? अथवा अनेकविध योनियोंमें प्रवृत्त होनेवाले इस परमात्माका कौन-सा प्रयोजन है ? या अनेक प्रकारकी योनियोंमें प्रवृत्त न होनेवाले अपनेमें शान्त-भावसे बैठे रहना और संसारमें अनुप्रविष्ट न होनेसे उसे कष्टका अनुभव प्रतीत होता है या किसी अनर्थकी सम्भावना है ? हे विद्वान् ! उक्त सब विवरण

भवति ? हे विद्वन् ! मे ब्रूहि सर्वं यथावत्। तथा च ब्रह्मविदामेकः पुण्डरीको भगवान् याज्ञवल्क्यस्तत एव सर्वस्य सृष्टिमुक्त्वा तस्यैव जीवात्मत्वमभ्युपगम्य 'यद्येवं स कथं ब्रह्मन् पापयोनिषु जायते। ईश्वरश्च कथं भावैरनिष्टैः सम्प्रयुज्यते' इति। 'कोऽसौ नियुङ्क्ते' इत्यनेन भगवतोक्तमेव ब्रह्मजीववादपक्षं वावदूकचोद्यं स्वयमेव स्पष्टमुक्तवान् ॥ १९ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

दोषो महानत्र विभेदयोगे ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः।
तथास्य नाधिक्यमपैति किंचिदनादियोगेन भवन्ति पुंसः ॥ २०॥

यद्येवं चोदयत एषोऽभिप्रायः—नियोज्यनियोक्तृत्वादिभेददर्शनादेकस्य कूटस्थस्य तदसम्भवाद्भेदेन भवितव्यमिति। तत्र यदि ब्रह्मण एव नानात्वमभ्युपगम्यते चेत्—तदा तस्मिन् भेदयोगे ब्रह्मणो नानात्वयोगे दोषो महान्।

मुझ जिज्ञासु व्यक्तिके प्रति यथावत् कहिये। तथा ब्रह्मवेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ कमल-स्वरूप भगवान् याज्ञवल्क्यमुनिने निर्देश दिया कि इससे समग्र सृष्टिका उद्भव होता है यह कह करके जीवत्वको उस परमब्रह्म परमात्माका ही स्वरूप माना है। 'यदि ऐसा भाव है, तो हे ब्रह्मन्! वह योनियोंमें कैसे उत्पन्न होता है? और परमेश्वर—सर्व समर्थ होता हुआ भी अनिष्टभावोंसे कैसे संयुक्त रहता है? कोऽसौ नियुङ्क्ते' इस प्रकार परमात्माको कौन नियुक्त करता है? इस कथनसे भगवान्के द्वारा कहे हुए ब्रह्म-जीववादके सिद्धान्तमें प्रतिपक्षीकी शंका निहित है। इस विषयमें भगवान्ने स्वयमेव निराकरण किया है ॥ १९ ॥

इस प्रकार जिज्ञासा करनेपर भगवान् श्रीसनत्सुजातने कहा कि—

श्रीसनत्सुजात बोले—परमात्मामें नानात्वका भेद माननेपर महान् दोष आ जाता है, अनादि मायाके संयोगसे अनेक प्रकारके जीवभाव आभासित होते हैं तो भी इस परमात्माकी महिमामें किञ्चित् भी अन्तर नहीं पड़ता है; क्योंकि अनादि मायाके सम्पर्कसे असंख्य जीवोंकी अनेकरूपसे अभिव्यक्ति हो जाती है ॥ २० ॥

यदि इस प्रकार प्रश्नकर्ताका यह भाव है कि सर्वत्र नियोज्य और नियोजकत्वादिका परस्पर भेद देखनेमें आता है तो एक कूटस्थ परमात्मामें उस भेदका होना सर्वथा असंगत ही प्रतीत होता है। अत एव परमब्रह्म परमात्मामें भेदका होना सिद्ध हो रहा है। यदि परमब्रह्म परमात्माका ही

को दोषः ? अद्वैतिनो ह्यतथावादिनोऽवैदिका भवेयुः, वेदहृदयं परमार्थमद्वैतं च बाध्यं स्यात् । किं च नानारूपेण परिणतत्वादनित्यादिदोषःऽस्थूलादिवाक्य-विरोधश्च प्रसज्येत् ।

अथोच्यते नास्माभिर्ब्रह्मणो नानात्वमभ्युपगम्यते, अपि तु जीवपरयो-र्भेदोऽभ्युपगम्यत इति । अत्रापि महान् दोषः, यतो विनाशं प्राप्नोति । श्रूयते च 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' 'मृत्योः स मृत्यु-माप्नोति य इह नानेव पश्यति' 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहम-स्मीति न स वेद यथा पशुः', 'अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानःते क्षय्यलोका भवन्ति', 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' इति ।

नानात्व स्वीकार किया जाय, ऐसी स्थितिमें उसमें भेदका योग माननेपर अर्थात् परमब्रह्म परमात्मामें नानात्व धर्मका संयोग स्वीकार करने पर महान् दोष उपस्थित हो जाता है, वह दोष कौन-सा है ? इसको माननेमें अद्वैत-वेदान्ती लोग असत्यभाषी और वैदिक-सम्प्रदायहीन कहलायेंगे और वेदके हृदयरूप परमार्थस्वरूप अद्वैतका बाध हो जायेगा । इसके अतिरिक्त अन्य दोषोंसे भी ग्रस्त हो जायेगा । जैसे अनेकरूपसे परिणत होनेके कारण ब्रह्म अनित्यादि धर्मोंसे संयुक्त हो जायेगा एवं परमब्रह्म परमात्माके विषयमें श्रुतियोंने 'अस्थूल' शब्दसे वर्णन किया है इन श्रुति-वाक्योंमें भी विरोध उत्पन्न होगा ।

उक्त कथनसे यदि यह कहा जाये कि हम परमब्रह्म परमात्मामें भेदका होना स्वीकार नहीं करते हैं अपितु जीवात्मामें ही केवल भेद मानते हैं तो भी एक महान् दोष उपस्थित हो जाता है । जबकि इससे विनाशकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है । इस विषयमें भगवती श्रुति कहती है कि जब यह जीवात्मा अपने स्वरूपभूत परमब्रह्म परमात्मामें थोड़ा-सी भी भेद-दृष्टि करता है तब भी उसके लिए भय उत्पन्न हो जाता है ।' 'जो व्यक्ति इस परमात्मामें भेद-भावसे देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है ।' तथा जो व्यक्ति किसी अन्य देवताको भेद-दृष्टिसे देखता हुआ यह मानता है कि यह मुझसे भिन्न है और मैं भी उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार भेदबुद्धिपूर्वक उपासना करता है वह पशुकी भाँति उस भावको नहीं जानता है ।' जो लोग भिन्नरूपसे जानते हैं वे अन्य किसी राजाके वशीभूत होकर रहते हैं और परिवर्तनशील विनाशी लोकमें जाते हैं ।' जो विद्वान् पुरुष सभी भूत-प्राणियोंको अपने आत्मस्वरूपसे भिन्नतया देखता है वह सभी जीवोंसे तिरस्कारको प्राप्त होता है ।'

अथवा, जीवपरयोर्भेदेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', अयमात्मा ब्रह्म', यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म; , य आत्मा सर्वान्तरः' 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः', 'अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्', इदं सर्वं यदयमात्मा', एष त आत्मा सर्वान्तरः', 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि', 'स वा एष महानज आत्माजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं वै ब्रह्मेति' इत्येवमादिश्रुतिस्मृतितिहासपुराणविरुद्धभाषितत्वाद- वैदिकत्वं नाम महान् दोषो भवति।

कथं तर्हि त्वत्पक्षे जीवेश्वरादिव्यवहारभेदः ? कथं वा तेषां नित्यत्वमिति? तत्राह—अनादियोगेन भवन्ति नित्याः' इति। अनादिरविद्याख्या माया तथा चोक्तं भगवता— प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इति।' इयं हि साक्षाज्जगतो योनिरेका सर्वात्मिका सर्वनियामिका च। माहेश्वरी शक्तिरनादिसिद्धा व्योमाभिधाना दिवि राजतीव ॥' इति च।

अथवा जीवात्मा और परमात्माका भेद स्वीकार करनेपर 'तू वह हो।' 'मैं ब्रह्म हूँ।' 'यह आत्मा ब्रह्म है।' 'जो साक्षात् अपरोक्षरूपसे ब्रह्म है।' जो सबका अन्तर्यामी आत्मा है।' 'यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी एवं अमृतरूप है।' 'यह जो आत्मा है।' वही यह है। वही अमृत है और यही ब्रह्म है; यह सबमें स्थित है 'जो यह आत्मा है वही सब कुछ है।' 'यह तेरा आत्मा सबके भीतर स्थित है।' हे भगवन् ! हे देव ! तुम ही मैं हूँ और मैं ही तुम हो।' वह यह महान् अजन्मा, जरा रहित, अमृत एवं अभय है इसलिए यह निश्चित है कि अभय ही ब्रह्म है, अभय ही ब्रह्म है।' इस प्रकार श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणके वचनोंका विवेचन करनेके कारण अवैदिकरूप बड़ा भारी दोष उपस्थित हो जाता है।

तब फिर तुम्हारे सिद्धान्तमें जीव और ईश्वरके व्यवहारका भेद कैसे होगा ? अथवा उन दोनोंकी नित्यता कैसे सिद्ध होगी ?

इस पर कहते हैं कि—'अनादि मायाके सम्बन्धसे अनेक अनादि जीव हो जाते हैं।' यह माया अनादि एवं अविद्याके नामसे प्रसिद्ध है। ऐसा ही गीताके त्रयोदश अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है—प्रकृति-त्रिगुणात्मिका माया और पुरुष-क्षेत्रज्ञ इन दोनोंको तू अनादि जान।' तथा अन्यत्र भी देखनेमें आया है कि 'यह व्योमसंज्ञक अनादिसिद्ध भगवान् महेश्वरसे सम्बन्धित शक्ति दिव्यलोकमें प्रकाशित-सी रहती है, जबकि यह जगत्‌की साक्षात् कारणात्मिका शक्ति है तथा एकरूपा होनेपर भी सर्वात्मिका और सर्वनियामिका है।'

तद्योगेन अनादिमायायोगेन भवन्ति जीवादयो नित्याः, अद्वितीयस्यापि परमात्मनो मायया बहुरूपत्वमुपपद्यत एवेत्यर्थः। श्रूयते च एकस्यैव बहुरूपत्वम्—'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते', 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' 'एको देवो बहुधा निविष्टः', 'एकः सन् बहुधा विचारः 'त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः', अजायमानो बहुधा विजायते' इति।

तथा च मोक्षधर्मे—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ इति॥

तथा च याज्ञवल्क्यः—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्।
तथात्मैकोऽप्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान्॥ इति॥

अनादि मायाके सम्पर्कसे ये जीवात्मा भी नित्य हो जाते हैं; एक अद्वितीय परमात्माका मायाके सम्बन्धसे बहुरूपत्व-असंख्य रूपोंमें विभक्त हो जाना श्रुतियोंसे उल्लेख मिलता है—'इन्द्र मायासे अनेक रूपोंको धारणकर लेता है।' वह परमात्मा ही प्रत्येक रूपके अनुरूप हो गया है।' 'विद्वान् लोग एक होता हुआ भी परमात्माका अनेक प्रकारसे वर्णन करते।' 'एक होनेपर भी अनेक प्रकारसे कल्पना करते हैं।' 'एक ही देवमें बहुत प्रकारका अभिनिवेश हो जाता है।' 'एक होता हुआ भी अनेक प्रकारसे संचरण करता है।' 'तुम एक ही हो किन्तु अनेक रूपोंमें अनुप्रविष्ट हो गये हो।' 'अजन्मा-अविनाशी होनेपर भी अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त हो जाता है।' इत्यादि श्रुति-वाक्योंमें ऐसा ही कावषेयगीतामें विवेचन किया है कि—परमब्रह्म परमात्माका न जन्म होता है और मरण ही होता है, वह न वध्य है और न किसीका बध करनेवाला ही है, न बद्ध है और न किसीको बाँधनेवाला है भी है, वह न मुक्त है और न मुक्तकर्त्ता भी है, किन्तु जो कुछ उससे भिन्नरूपमें प्रतीत हो रहा है वह सब मिथ्या है।' ऐसा ही भगवान् परमेश्वर द्वारा भी कहा गया है कि—मैं ही सबका प्रशासक हूँ, और परमार्थतः मायासे अतीत हूँ तथा प्रभु न तो स्वयमेव जन्म-मरणभावको प्राप्त होता है और न किसी अन्यको जन्म-मरण-भावको प्राप्ति करानेमें निमित्त भी है। और भी, यदि मायीय निमित्तको लेकर भेद माना जाये तो भी सबमें कार्य-कारणरूपसे स्थित इस परमात्माकी अधिकता-स्वरूपगत महिमामें थोड़ी-सी भी न्यूनता नहीं आती

तथा च कावषेयगीतासु—

एकश्च सूर्यो बहुधा जलाधारेषु दृश्यते ।
आभाति परमात्मापि सर्वोपाधिषु संस्थितः ॥
ब्रह्म सर्वशरीरेषु बाह्ये चाभ्यन्तरे स्थितम् ।
आकाशमिव कुम्भेषु बुद्धिगम्यो न चान्यथा ॥ इति ॥

तथा चाह परमेश्वरः—

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।
एकः सन् भिद्यते शक्त्या मायया सर्वभावतः ॥ इति ॥

यस्मादेकस्यैव मायया बहुरूपत्वं तस्मात्स एव कारणात्मा परमेश्वरः कार्यात्मानं जीवात्मानं नियुङ्क्ते कृतप्रयत्नापेक्षः सन् मायया, न परमार्थतः संसरति संसारयति वा । तथा चोक्तं कावषेयगीतासु—

न जायते न म्रियते न वध्यो न च घातकः ।
न बद्धो बन्धकारी वा न मुक्तो न च मोक्षदः ॥
पुरुषः परमात्मा तु यत्ततोऽन्यदसच्च तत् । इति ।

और इस विषयमें कावषेयगीताका भी कथन है कि—'गगनस्थ एक ही भगवान् सूर्यनारायण जलके आधारभूत पात्रोंमें अनेक प्रकारसे देखनेमें आता है। इसी प्रकार समस्त उपाधियोंमें अवस्थित परमात्मा भी विभिन्नरूपसे प्रतिभासित होता है। यह एक ही परमब्रह्म परमात्मा समस्त भूत-प्राणियोंके देहोंमें बाह्य एवं आन्तररूपसे अवस्थित रहता है। घटादि वस्तुओंमें व्याप्त आकाशकी भाँति बुद्धिगम्य है। इसके अतिरिक्त बुद्धिका विषय होना सम्भव नहीं है।

ऐसा ही परमेश्वर द्वारा वर्णित है कि—आत्मतत्त्व नित्य, सर्वव्यापक कूटस्थ और निर्दोष है और यह एक होनेपर भी माया शक्ति द्वारा समस्त भावपदार्थोंसे असम्बद्ध रहता है।

जबकि एक ही परमब्रह्म परमात्माका मायाशक्तिसे अनेक रूपत्व देखनेमें आता है। इससे वह कारणरूप परमात्मा ही कार्यात्मक जीवात्माको नियुक्त करता है; क्योंकि परमात्मा ही उस जीवात्माके द्वारा किये हुए प्रयत्नकी अपेक्षा मान करके ही मायाशक्तिसे नियोजित करता है। वस्तुतः वह न संसरण करता है और न अपनेसे किसी अन्यको संसरण करवाता भी है। ऐसा ही कावषेयगीतामें विवेचन किया है कि—परमब्रह्म परमात्माका न जन्म होता है और मरण ही होता है, वह न वध्य है और न किसीका वध करनेवाला

तथा चाह भगवान् परमेश्वरः—

'अहं प्रशास्ता सर्वस्य मायातीतस्वभावतः ।
न चाप्ययं संसरति न च संसारयेत्प्रभुः ॥' इति ॥

किं च मायानिमित्ते भेदेऽभ्युपगम्यमानेऽस्य परमात्मनः कार्यकारणात्मना अवस्थितस्यापि आधिक्यं स्वरूपाधिक्यं नापैति किंचित् किंचिदपि, मायात्मकत्वात्संसारस्य पूर्ववत् कूटस्थ एव भवतीत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मादनादियोगेनानाद्यविद्यायोगेन भवन्ति पुंसः पुमांसो जीवा बहवो भवन्ति ।

अथवा, पुंसः पुरुषस्य पूर्णस्य परमात्मनो या माया अनादिसिद्धा तद्योगेन बहवो भवन्ति । तथा चैतत् सर्वमनुगीतासु स्पष्टमाह भगवान्—

अज्ञानगुणरूपेण तत्त्वरूपेण च स्थितम् ।
ममत्वे यदि संसारो नोच्छिद्येत कथंचन ॥
अविद्याशक्तिसम्पन्नः सर्वयोनिषु वर्तते ।
तत्त्याज्यं सर्वविदुषां मोहनं सर्वदेहिनाम् ॥
तन्नाशेन महानात्मा राजते नात्र संशयः ।
अहंकारस्य विजये ह्यात्मा सिद्धो भविष्यति ॥

ही है, न बद्ध है और न किसीको बाँधनेवाला है भी है, वह न मुक्त है और न मुक्तिकर्त्ता भी है, किन्तु जो कुछ उससे भिन्नरूपमें प्रतीत हो रहा है वह सब मिथ्या है।' ऐसा ही भगवान् परमेश्वर द्वारा भी कहा या है कि—मैं ही सबका प्रशासक हूँ, और परमार्थतः मायासे अतीत हूँ तथा प्रभु न तो स्वयमेव जन्म-मरणभावको प्राप्त होता है और न किसी अन्यको जन्म-मरण-भावको प्राप्ति करानेमें निमित्त भी बनता है। और भी, यदि मायीय-निमित्तको लेकर भेद माना जाये तो भी सबमें कार्य-कारणरूपसे स्थित इस परमात्माकी अधिकता-स्वरूपगत महिमामें थोड़ी-सी भी न्यूनता नहीं आती है। भाव यह है कि संसारका स्वरूप मायीय है इसलिए यह परमात्मा पूर्ववत् कूटस्थ स्वरूपमें ही अवस्थित रहता है। जबकि इस प्रकार है इसीसे अनादि योगसे-अनादि अविद्यावशात् पुरुष-जीव अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त हो जाते हैं। अथवा पुरुषकी—परिपूर्ण पुरुष, परमब्रह्म परमात्माकी जो अनादि सिद्ध योगमाया है, उसके सम्पर्कसे अनेक जीवात्मा आविर्भूत हो जाते हैं। उक्त सब विवरण अनुगीतामें भगवान् द्वारा सुस्पष्टतया कहा गया है कि यदि यह अहन्ता-ममताके रहते हुए अज्ञानजनित गुणरूपसे अथवा सत्त्वज्ञानरूपसे स्थित इस संसारका उच्छेद हो जाय, तो यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है;

सिद्धे चात्मनि निर्दुःखी पूर्णबोधो भविष्यति ।
पूर्णबोधं परानन्दमनन्तं लोकभावनम् ॥
भजत्यव्यभिचारेण परमात्मानमच्युतम् ।
तद्भक्तस्तत्प्रसादेन ज्ञानानलसमन्वितः ॥
अखिलं कर्म दग्ध्वान्यैर्विष्ण्वाख्यममृतं शुभम् ।
प्राप्नोति सर्वसिद्धार्थमिति वेदानुशासनम् ॥ इति ।

तथा हि भगवान् परमगुरुः पराशर आत्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वं दर्शयति—

ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः ।
तदेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥
ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसम्प्लवे ॥
ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिल जगत् ।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ॥

ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसावशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः ।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदाञ्जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि ॥

क्योंकि जीवात्मा अविद्या शक्तिसे युक्त होकर ही समस्त योनियोंमें भटकता है इसलिए सभी लोगोंको मोह-जालमें बाँधनेवाली उस अविद्याशक्तिका सर्वथा त्याग करना चाहिए। उसकी निवृत्ति हो जानेसे तो यह महान् आत्मा देदीप्यमान हो जाता है इसमें सन्देह नहीं है; क्योंकि अहंकारको अपने वशीभूत कर लेनेपर ही आत्माकी सिद्धि सम्भव है और आत्मसिद्धि कर लेनेपर यह प्राणी दुःखरहित एवं पूर्णज्ञानसे सम्पन्न हो जायेगा। जो ज्ञानकी पूर्णस्थितिमें आरूढ हो गया है वह परमानन्दरूप अनन्त लोकभावन परमात्माका अव्यभिचारभावसे भजन करता है। उसके ज्ञानरूप प्रसादसे भगवद्भक्त-ज्ञानाग्निसे युक्त होकर समस्त संचित एवं क्रियमाण कर्मोंको दग्ध कर अन्य सभी इच्छाओंके सहित विष्णुसंज्ञक शुभ अमृतकी प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार समस्त सिद्ध वस्तुओंको देनेवाला है, यह वेदानुशासन है।

जबकि ऐसा ही भगवान् परमगुरु श्रीपराशरमुनिने आत्मासे भिन्न सबका मिथ्यात्व दिखलाया है कि—परमार्थतः यह परमतत्त्व अत्यन्त विमल ज्ञानप्रकाशात्मक है।

यदा तु शुद्धं निजरूपि सर्वकर्मक्षये ज्ञानमपास्तदोषम् ।
तदा हि संकल्पतरोः फलानि भवन्ति नो वस्तुषु वस्तुभेदाः ॥
वस्त्वस्ति किं कुत्रचिदादिमध्य पर्यन्तहीनं सततैकरूपम् ।
यच्चान्यथात्वं द्विज याति भूयो न तत्तथा तस्य कुतो हि तत्त्वम् ॥
मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिका चूर्णरजस्ततोऽणुः ।
जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चयैरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु ॥
तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित्क्वचित्कदाचिद् द्विज वस्तुजातम् ।
विज्ञानमेकं निजकर्मभेदविभिन्नचित्तैर्बहुधाभ्युपेतम् ॥
ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषदोषादिनिरस्तसङ्गम् ।
एकं सदैकं परमः परेशः स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥
सद्भाव एष भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत् ।
एतत्तु यत्संव्यवहारभूतमत्रापि चोक्तं भुवनाश्रयं ते ॥

परमार्थस्तु भूपाल संक्षेपाच्छ्रूयतां मम ।
एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः ॥
जन्मवृद्ध्यादिरहितो ह्यात्मा सर्वगतोऽव्ययः ।
परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः ॥
न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव योक्ष्यति ।
तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि तत् ॥
विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ।
तदेतदुपदिष्टं ते संक्षेपेण महामते ॥
परमार्थसारभूतं यत्तदद्वैतमशेषतः ।
सितनीलादिभेदेन यथैकं दृश्यते नभः ॥
भ्रान्तदृष्टिभिरात्मापि तथैकः सन् पृथक्कृतः ।

किन्तु वही सत्यरूपमें स्थित पदार्थ भ्रमपूर्ण दृष्टिवशात् अवस्तु-मिथ्यारूप से प्रतीत होता है, विवेकहीन प्राणी इस ज्ञानात्मक समग्रप्रपञ्चको पदार्थस्वरूपमें देखने कारण मोह प्रवाहमें डूब जाते हैं। हे परमेश्वर ! किन्तु जो लोग ज्ञानी एवं विशुद्ध चित्तयुक्त हैं, वे समस्त संसारको ज्ञानपूर्णदृष्टिसे और भगवद्रूपसे देखते हैं। यद्यपि यह समस्त प्रपञ्चरूप विश्व मामीयरूपसे भासित होता है तो भी वह ज्ञानस्वरूप विश्वमूर्त्ति भगवान्का ही साक्षात् स्वरूप माना जाता है, वस्तुरूप नहीं है। इसलिए तुम गिरि, गुहा, सागर, सरिता, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि भेदरूपसे प्रतीत होनेवाली सभी वस्तुओंको विज्ञानका ही विस्तार जानो।

एकः समस्तं यदिहास्ति किंचित् तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत् ।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् ॥
इतीरितस्तेन स राजवर्यस्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः ।
स चापि जातिस्मरणाप्तबोध स्तत्रैव जन्मन्यपवर्गमाप ॥
ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च ।
नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वं यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य ॥

किन्तु जब समस्त संचित और क्रियमाण कर्मों के विनष्ट हो जानेपर यह विशुद्ध अपने आत्मस्वरूपभूत नामरूपात्मक विश्व दोषसे विमुक्त होकर संवित्प्रकाशात्मक ज्ञानमें स्थित हुआ दृष्टिगोचर होता है तब संकल्परूप वृक्षके फलभोगरूप पदार्थोंमें वस्तुके आकाररूपसे होनेवाली भेदप्रतीति नहीं रह जाती है। हे ब्रह्मन् ! वह वस्तु कैसी है एवं कहाँपर रहती है और सुना है कि वह आदि, मध्य एवं अन्तहीन है तथा सदा एकरूपमें रहती है जो भिन्नरूपसे हो जाती है और फिर वह अपने पूर्वस्थितिको प्राप्त नहीं होती है। जबकि उसका वस्तुत्व कहाँ रहता है ? ज्ञानहीन प्राणियोंमें अपने कर्मगत कालुष्यभावको लेकर अपने आत्मस्वरूपका निश्चित संकल्प अभिभूत हो गया है इसलिए उन्हें यह पृथिवी घटत्वरूपसे अवगत होती है और घटसे कपालके रूपमें एवं कपालसे चूर्ण-धूलरूपमें एवं धूलसे अणु-परमाणु आदि पर्यन्त लक्षित होती है, किन्तु इसमें वस्तुत्व क्या है ? यह कहो। इसलिए हे ब्रह्मन् ! विज्ञानसे भिन्न कहीं कोई भी वस्तु नहीं है। एक विज्ञानस्वरूप आत्मा ही अपने कर्मों के भेदसे विभिन्न अन्तःकरणगत धर्मोंके द्वारा अनेकरूपोंमें अभिव्यक्त हो जाता है। यह विज्ञानस्वरूप आत्मा विशुद्ध, विमल, शोक रहित और समस्त दोषोंसे शून्य सदा एकरस एवं एक रूपमें रहता है। वह परमब्रह्म परमात्मा वा देव है जिससे यह सारा संसार प्रपञ्चरूपमें व्याप्त है और इसके अतिरिक्त दूसरे किसीकी भी सत्ता नहीं है। मैंने आपके अभिमुख इस सद्रूप विज्ञानात्मक वस्तुका वर्णन किया है। इसमें ज्ञानस्वरूप वस्तु ही परमार्थ सत्य है, इससे भिन्न सब असद्रूप मिथ्या ही है, किन्तु यह जो समस्त व्यवहारभूत भुवनोंका अधिष्ठान है, मैंने उसका भी इसके अन्तर्गत प्रतिपादन कर दिया है। हे पृथिवीके पालन करनेवाले राजन् ! परमार्थरूप सद्वस्तुके विषयमें मुझसे संक्षेपतः विवेचन सुनिये। जो एकरस, सर्वव्यापी, सर्वगत, विशुद्ध, निर्गुण प्रकृतिसे अतीत और जन्मा, सत्ता, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश आदि भावोंसे पृथक् है; इसलिए वह सर्वगत अविनाशी आत्मा परमविज्ञानमय है। नाम, जाति आदि असद्भावोंसे उस सर्वव्यापी परमात्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है और पूर्वमें भी इसका

विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत् ।
द्रष्टव्यमात्मनस्तस्मादभेदेन विचक्षणैः ॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥
तद्भावभावमापन्नस्तदासौ परमात्मना ।
भवत्यभेदी भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत् ॥
ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेच्यते ।
ज्ञानात्मकमिदं सर्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम् ॥
विद्याविद्ये च मैत्रेय ज्ञानमेवोपधारय ॥ इति ॥

कभी भी सम्बन्ध नहीं रहा था और न इसकी कोई आगे सम्बन्ध होनेकी सम्भावना भी है। जबकि इसलिए अपने एवं दूसरोंके शरीरोंमें रहनेपर भी एकरूपमें प्रतिष्ठित रहता है। हे महान् बुद्धिमान् ! यह जो मैंने तेरे प्रति विज्ञानात्मक आत्माका उपदेश दिया है। वस्तुतः वही सत्य-सनातन वस्तु है और इस विषयमें द्वैतवादियोंकी तो मिथ्यादृष्टिसे अपारमार्थिक धारणा बन गयी है इसीसे वे लोग वास्तविकतासे बहुत दूर हो गये हैं।

जो परमार्थरूप वस्तुतत्त्व है वही अद्वैतरूप है। जैसे एक ही सर्वत्र समरूपसे स्थित महाकाशके विषयमें पामरलोग श्वेत-नीलादिके भेदसे बहुत-सी मिथ्या कल्पना कर लेते हैं। वैसे भ्रान्त लोगोंने एकरूप होनेपर भी आत्माकी अनेक रूपोंमें मिथ्या धारणा बना ली। यहाँ जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब एक सर्वव्यापक परमात्माका ही स्वरूप है, इससे भिन्न कुछ भी तो नहीं है। वह मैं हूँ और वही तुम हो और यह सारा प्रपञ्च आत्माका विलास है इसलिए तुम भेदयुक्त मोहको छोड़ दो।'

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रक्रियासे वर्णन करनेपर धृतराष्ट्रने परमार्थदृष्टिको प्राप्त कर ली और भेदबुद्धिका त्याग कर दिया और वह भी पूर्वजन्मजनित संस्कारबलवशात् तत्त्वबोधकी प्राप्ति द्वारा वर्तमान जन्ममें अविमुक्तदशाको प्राप्त कर लेता है। नक्षत्र विष्णु हैं और गिरि, दिशा, सरिता एवं सागर भी विष्णु हैं। हे द्विजोंमें श्रेष्ठ ! जो कुछ प्रतीत हो रहा है और जो कुछ नहीं भी दृष्टिगोचर होता है, वह भी सब आत्माका ही स्वरूप है और यह सारा विश्व सर्वव्यापी भगवान् श्रीविष्णुका ही विस्तार है। इसलिए इसे तत्त्वदर्शियोंको अपनेमें अभेदभावसे ही देखना चाहिए। भेदबुद्धिको उत्पन्न करनेवाले अज्ञानका आत्यन्तिक विनाश हो जानेपर तो फिर जीवात्मा और परमात्मामें भेदभावको

तथा चैतत्सर्वं स्पष्टमाह भगवान् सनत्सुजातो ब्रह्माण्डपुराणे कावषेयगीताप्रसङ्गे—

वेदान्पठध्वं विधिवद्व्रतानि कृत्वा विवाहं च मखेर्यजध्वम्।
उत्पाद्य पुत्रान् वयसो विरामे देहं त्यजध्वं नियतास्तपोभिः ॥ इति ॥
किमद्य नश्चाध्ययनेन कार्यं किमर्थवन्तश्च मखैर्यजामः।
प्राणं हि वाप्यनले जोहवीमः प्राणानले जोहवीमीति वाचम् ॥ इति ॥

कृतकृत्यत्वेन यज्ञाद्यनुष्ठानेनात्मनः प्रयोजनाभावं दर्शयित्वा 'स्वर्गात्तु वेश्यागृहसंनिवेशात्पुण्यक्षयान्ते पतनं स्यादवश्यम्। मनुष्यलोके विजरा विदुःखम् …………' इति यज्ञादिसाध्यस्य लोकस्यानित्यत्वादिदोषदुष्टत्वेन हेयत्वं दर्शयित्वा यजुर्वेदोपनिषदि 'सत्यं परं परम्' इत्यारभ्य सत्यादिनां माहात्म्यं दर्शयित्वा 'न्यास:' इत्यारभ्य 'तानि वा एतान्यवराणि तपासि न्यास एवात्यरेचयत्' इत्यन्तेन नित्यसिद्धनिरतिशयानन्दब्रह्मप्राप्तिसाधनस्य तत्साधनत्वेनापरादनित्यफलसाधनाद्यज्ञादेः सर्वस्मादुत्कृष्टत्वं संन्यासस्योक्तं तत्रैव श्रूयते—

कौन उत्पन्न करेगा। उस समय वह तत्त्ववेत्ता पुरुष उस सर्वव्यापी परमात्मासे एकरूपताको प्राप्त होकर अभेदावस्थामें ही स्थित हो जाता है और उसका भेद तो अज्ञानकर्तृक है, इसलिए वह ज्ञानदृष्टिसे भेद विनष्ट कर देता है। ज्ञान ही परमपुरुषार्थ है और ज्ञान ही बन्धनका मूल कारण भी कहा जाता है। यह सब प्रपञ्च ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानसे भिन्न किसीका भी अस्तित्व नहीं देखनेमें आता है। हे मैत्रेय ! इसलिए विद्या और अविद्या अर्थात् ज्ञान और अज्ञानको तुम ज्ञानका स्वरूप समझो।' ऐसा ही यह सब ब्रह्माण्डपुराणके अन्तर्गत कावषेय-गीताके प्रसंगमें भगवान् श्रीसनत्सुजातने स्पष्टरूपसे उल्लेख किया है कि वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन करो, विधिवत् व्रतानुष्ठान करते हुए अपने योग्य पाणि-ग्रहण संस्कारसे सम्पन्न होकर यज्ञों द्वारा देवताओंका यजन करो और पुत्र-पौत्रादिकी उत्पत्ति करके आयुकी अन्तिम अवस्थामें अर्थात् चतुर्थाश्रममें पहुँचने पर मोक्षप्राप्तिके साधनभूत तप आदि कर्मोंमें नियुक्त होकर शरीरको छोड़ दो। अब हमारे लिए वेदशास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापनसे क्या प्रयोजन है ? हमलोग किन उद्देश्यको लेकर यज्ञों द्वारा देवताओंका यजन करें जिससे कि हम प्राणका अग्निमें अथवा प्राणरूप अग्निमें वाणीका हवन करें। इस प्रकार अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करनेवाले ज्ञानी पुरुष कृतार्थ हो जानेसे अपने यज्ञादि अनुष्ठान द्वारा किसी भी प्रकारका प्रयोजन न दिखा करके किन्तु स्वर्ग तो वैश्याके गृहकी भाँति है और जीवात्माका पुण्यकर्मोंके क्षय हो जानेपर

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति॥
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात्परि मुच्यन्ति सर्वे॥ इति॥

तथा च बृहदारण्यके सर्वकर्मसंन्यासं दर्शयति —

'एतं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥' इति॥

निश्चित पतन हो जाता है। मनुष्यलोकमें जरा रहित और दुःखसे रहित····। इस प्रकार यज्ञादिसे प्राप्त होनेवाले लोक अनित्यादि दोषोंसे दूषित होनेके कारण सर्वथा त्याज्य है ऐसा दिखलाया है और यजुर्वेदीय उपनिषद्में 'सत्यं परं परम्।' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे प्रारम्भ करके सत्यज्ञानादिकोंका महत्त्व प्रदर्शित करते हुए 'न्यासः' से लेकर वे भी तप आदि निम्नश्रेणीमें गिने जाते हैं इसलिए उन सबका संन्यास ही सर्वोत्कृष्टभावको प्राप्त करा देगा।' इत्यादि श्रुति अंशसे नित्यसिद्ध निरतिशय ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिमें संन्यासधर्मको ही यज्ञादिकोंकी अपेक्षासे सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। जो कि वह परमब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका एकमात्र साधन माना जाता है। जबकि दूसरे सभी अनित्य-दुःखरूप फलोंके साधन तो अवरकोटिमें गिने जाते हैं और इस विषयमें भगवती श्रुति भी कहती है कि कुछ दूसरे लोगोंने न कर्मसे, न प्रजासे अथवा न धनसे ही अमृतको प्राप्त किया है अपितु केवल त्यागसे अमृतत्व प्राप्त किया है। वह सर्वोत्कृष्ट सुख बुद्धिरूप गुहामें प्रकाशित होता है जो कि यतिवृन्द उसमें प्रवेश करते हैं। जिन तत्त्ववेत्ताओं तथा समस्त कर्मों के परित्यागसे यतिवृन्द विशुद्ध अन्तःकरणसे युक्त हो गये हैं वे सभी कल्पान्तमें ब्रह्मलोकमें सुखपूर्वक स्थित होकर परमब्रह्मभावको प्राप्त कर विमुक्त हो जाते हैं।'

ऐसा ही बृहदारण्यक उपनिषद्में समस्त कर्मोंके परित्यागको दिखाया है कि इस प्रकार इस आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कर तत्त्वदर्शी पुरुष पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणाको छोड़ करके केवल भिक्षाटन करते थे।' ऐसा ही गीताशास्त्रमें भगवान् श्रीवासुदेव समस्त कर्मोंका संन्यास दिखलाते हैं— जिसने अन्तःकरण और शरीरको जीत लिया है तथा समस्त भोग-विषयक वस्तुओंको छोड़ दिया है आशारहित ज्ञानी पुरुष केवल देह-सम्बन्धी कर्मको करता हुआ पापको नहीं प्राप्त होता है। जो व्यक्ति इच्छासे रहित पवित्र, दक्ष, पक्षपातसे रहित उदासीन स्वरूपमें स्थित एवं दुःखसे मुक्त है वह समस्त

तथा च भगवान् वासुदेवः सर्वकर्मसंन्यासं दर्शयति—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ इति॥

तथा चानुगीतासु कर्मणि प्रयोजनाभावं दर्शयति भगवान्—

नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभाशुभी।
यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन्॥ इति॥

कर्मोंमें कर्तृत्वके अभिमानका त्याग करनेवाला मेरा भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है। जो न कभी इष्टवस्तुको प्राप्तिमें हर्षका अनुभव करता है, न अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर द्वेष ही करता है, न शोच करता है और न किसी प्रकारकी इच्छा रखता है। जो शुभाशुभ अर्थात् पुण्य एवं पापरूप कर्मोंके फलका संन्यासी है वह भक्तिमान् मुझे प्रिय है।' जो शत्रु और मित्र दोनों पक्षोंमें समभाव रखता है तथा मान और अपमानमें भी समभाव रखता है। सब प्रकारसे मन, वचन और शरीरसे होनेवाले सभी कर्मोंमें कर्तृत्वका अभिमान न रखनेवाला है वह गुणातीत कहलाता है। सर्वत्र आशक्तिसे रहित बुद्धिवाला स्पृहा रहित और जितेन्द्रिय वह संन्यास द्वारा परमोत्कृष्ट नैष्कर्मभावको प्राप्त कर लेता है। समस्त कर्मोंके आश्रयको त्याग कर तू केवल मुझ सच्चिदानन्द-घन परमात्माकी शरण हो जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापकर्मोंसे छूटकारा करवा दूँगा, तू शोक मत कर।

ऐसा ही अनुगीतामें भी कर्मके प्रयोजनका अभाव दिखलाया है कि 'जो साधक पुरुष क्षणमात्र भी एक आसनपर स्थिर होकर चित्त-वृत्तिको समाहित कर अपने आत्मस्वरूपमें विलीन हो जाता है, वह न धर्मात्मा है और

प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ।। इति ।।

तथा च शान्तिपर्वणि शुकं प्रत्युपदिष्टवान् भगवान् व्यासः—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।।
एषा वै विहितावृत्तिः पुरस्ताद्ब्रह्मणा स्वयम् ।
एषा पूर्वतरैः सद्भिराचीर्णा परमर्षिभिः ।।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ।
तद्भवानेवमभ्यस्य वर्ततां श्रूयतां तथा ।। इति ।।

तथा च सर्वकर्मसंन्यासं दर्शयति भगवान् नारदः—

संन्यस्य सर्वकर्माणि संन्यस्य विपुलं तपः ।
संन्यस्य विविधा विद्याः सर्वं संन्यस्य चैव हि ।।
शक्यं त्वेकेन मुक्तेन कृतकृत्येन सर्वशः ।
पिण्डमात्रमुपाश्रित्य चरितुं सर्वतोदिशम् ।।

न अधर्मात्मा है एवं न पुण्यात्मक कर्मका कर्ता है और न पापकर्मका कर्ता है ।' इस प्रकार योगप्रवृत्ति धर्मवाला है और ज्ञान सन्यासरूप निवृत्ति धर्मवाला है । अत एव तत्त्वज्ञ पुरुषका यह परम कर्त्तव्य है कि इस लोकके समस्त कर्मोंका संन्यास कर दें ।

ऐसा ही व्यासमुनिने महाभारतके शान्तिपर्वमें शुकदेवके प्रति उपदेश दिया है कि—जीवात्मा कर्मसे बन्धता है और तत्त्वज्ञानसे मुक्त हो जाता है । इसीसे तत्त्वज्ञानी यतिवृन्द कर्मोंमें नहीं पड़ते हैं । प्राचीनकालमें स्वयमेव ब्रह्माने इस वृत्तिका विधान किया है । पूर्व मनीषियों द्वारा इसका आचरण हुआ है इसलिए विद्वान् पुरुषको सर्वोत्कृष्ट पारिव्राज्यसंज्ञक अनुत्तरधामके लिए प्रस्थान करना चाहिए । इस प्रकार अभ्यासपूर्वक इसी वृत्तिका आचरण करते रहो और तत्त्वज्ञानसे सम्बन्धित वेदान्त शास्त्रका सतत श्रवण, मनन आदि करते रहो ।

इस विषयमें भगवान् श्रीनारदमुनिने समस्त कर्मोंसे संन्यासको श्रेष्ठ कहा है—सम्पूर्ण कर्मोंका परित्याग, अत्यधिक उग्रतपका भी संन्यास, अनेक प्रकारकी विद्याओंका भी संन्यास और सब कुछ छोड़ते हुए सब प्रकारसे विमुक्त, कृतकृत्य हुए ब्रह्मज्ञानी पिण्डमात्रका आश्रय लेकर विधि एवं निषेधसे दूर होकर यथेष्ट विचरण करें । सत्त्वादि तीनों गुणोंसे उत्पन्न होनेवाले संसारके

हित्वा गुणमयं पाशं कर्म हित्वा शुभाशुभम्।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा एवं भवति निर्गुणः॥
परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः।
अशोकस्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम्॥ इति।

तथा च सर्वकर्मसंन्यासिन एव ज्ञानेऽधिकारः, नेतरस्येत्याह भगवान् बृहस्पतिः—

प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतः सुखी।
रागवान् प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानमाप्नुयात्॥

तथा चाश्वमेधिके ब्रह्मणा सम्यगुक्तं मुनीन् प्रति सर्वाश्रमिणां सर्वकर्मसंन्यासेऽधिकार इति—

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ वा पुनः।
य इच्छेन्मोक्षमास्थातुमुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत्॥
एतत्तु ब्राह्मणं वृत्तमाहुरेकपदं सुखम्।
एषा गतिर्विरक्तानामेष धर्मः सनातनः॥ इति

कामपाशोंको तोड़ करके, पाप-पुण्यात्मक शुभाशुभ कर्मोंको छोड़कर, सत्य और असत्य दोनोंसे दूर होकर अपनेमें स्थित रहनेवाला विद्वान् प्रकृति के गुणत्रयसे रहित हो जाता है। हे तात! परिग्रह अर्थात् ज्ञान-साधनामें अनुपयोगी सामग्रीका त्याग करके जितेन्द्रिय हो तथा लोक और परलोकमें शोक रहित एवं निर्भयपदमें स्थिर हो।'

ऐसा ही भगवान् बृहस्पतिने सम्पूर्ण कर्मोंके संन्यासीको ही ज्ञानमार्गका अधिकारी कहा है—इसके अतिरिक्त किसी भी व्यक्तिका ज्ञानमार्गमें अधिकार नहीं होता है—जैसे प्राणीको शब्दादि विषयोंमें प्रवृत हुई इन्द्रियाँ क्लेश देती हैं और उन इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे निवृत्त कर अपने स्वाधीन करनेपर पुनः उसके लिए सुख देनेवाली हो जाती हैं; क्योंकि विषयोंमें आसक्त बुद्धिवाला अनुरागी प्राणी प्रकृतिकी तरफ जाता है और अनासक्त बुद्धिवाला वैरागी पुरुष ज्ञानधर्मको प्राप्त करता है।

ऐसा ही ब्रह्माने आश्वमेधिक पर्वमें भली प्रकार मुनियोंके प्रति कहा था कि—सभी वानप्रस्थादि आश्रमवालोंके लिए समस्त कर्मोंके संन्यासमें ही अधिकार है—ब्रह्मचारी हो अथवा गृहस्थ हो या वह वानप्रस्थ ही हो, किन्तु जो विद्वान् मोक्षपदकी आकांक्षा रखता है उसे तो परमोत्कृष्ट ज्ञानवृत्तिका ही अवलम्बन लेना पड़ेगा। इसको तत्त्ववेत्ताओंका स्वरूप कहा जाता है और

यस्मादेवं तस्माद्विदुषो मुमुक्षोश्च सर्वकर्मसंन्यासः एवाधिकारः ॥ २० ॥

एवं तावदेकस्यैव परमात्मनोऽनादिमायायोगेन बहुरूपत्वमुक्तम्। इदानीं यदीश्वरस्य जगत्कारणत्वं तदपि मायोपाधिकमित्याह—

य एतद्वा भगवान् स नित्यो विकारयोगेन करोति विश्वम्।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्ये तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः ॥२१॥

य एतद्वा परमार्थभूतो भगवान् ऐश्वर्यादिसमन्वितः परमेश्वरो नित्यः स विकारयोगेन ईक्षणादिपूर्वकं विश्वं करोतीति तथा तत्सर्वं तच्छक्तिर्देवात्मशक्तिर्मायैव करोति न परमात्मा अपूर्वादिलक्षण इति स्म मन्ये। न स्वतश्चित्सदानन्दाद्वितीयस्य कारणत्वम्, किंतु मायावशेवशादित्यर्थः।

किं तर्ह्यस्य तथाभूतशक्तियोगे प्रमाणमिति चेत्, तत्राह—तथार्थयोगे। तस्य परमात्मनो जगदुपादानभूतमायार्थयोगे च भवन्ति वेदाः। तस्य माया-

यही कैवल्यधामका आनन्द है एवं यही विरक्त पुरुषोंकी सर्वोत्तम गति है तथा यही सनातनधर्म है।'

जबकि इस प्रकार है, इसीसे विद्वान् पुरुषका और मुमुक्षु पुरुषका समस्त कर्मोंके परित्यागमें ही अधिकार होना सिद्ध होता है ॥ २० ॥

इस प्रकार सबसे पहले अनादि मायाके सम्पर्कसे एक ही परमब्रह्म परमात्माकी बहुरूपताका प्रतिपादन किया गया है। सम्प्रति यह कहा जा रहा है कि परमेश्वरका जो जगत् कारणत्व है वह भी मायागत उपाधिको लेकर ही है—यह जो षड्विध ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् वासुदेव है वह अविनाशी परमात्मा ही विकारके योगसे विश्वका निर्माण करता है तथा उसकी माया-शक्ति ही अनेक प्रकारसे सृजन करती रहती है ऐसा मैं मानता हूँ और उस मायाशक्तिके अस्तित्वमें वेदोंसे प्रमाण प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

ये जो धर्म, यश, ज्ञान, वैराग्यादि लक्षणोंसे युक्त षड्विध ऐश्वर्यवाले भगवान् श्रीवासुदेव परमात्मा है वे नित्य-अविनाशी परमेश्वर विकारके संयोगसे अर्थात् ईषणादिसे युक्त होकर विश्वका निर्माण करते हैं तथा उक्त सब इन्द्रादि देवोंके भी देवकी आत्मशक्ति मायासे ही विश्वका विस्तार होता है। वस्तुतः अपूर्वादिरूप परमात्मा स्वतः कुछ भी नहीं करता है ऐसा ही मैंने समझा है; क्योंकि सच्चिदानन्दस्वरूप परमब्रह्म परमात्माकी विश्वनिर्माणरूप कार्यमें स्वभावतः कोई हेतुता नहीं रहती है किन्तु मायाशक्तिके माध्यमसे संसारका यह दृश्यमान सारा व्यापार हो रहा है। यही कहनेका तात्पर्य है।

सद्भावे वेदाः प्रमाणं भवन्तीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते,' 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्,' 'मायिनं तु महेश्वरम्,' 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति।

तथा चाह भगवान् वासुदेवः—

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्॥
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्॥' इति॥

तथा च—

माया तवेयमज्ञातपदार्थानतिमोहिनी।
अनात्मन्यात्मविज्ञानं यया मूढोऽधिरोहति॥
इयमस्य जगद्धातुर्माया कृष्णस्य गह्वरी।
धार्यधारकभावेन यया सम्पीडितं जगत्॥
अहो स्म दुरस्तरा विष्णोर्मायियमतिगह्वरी।
यया मोहितचित्तस्तु न वेत्ति परमेश्वरम्॥ इति॥२१॥

यह सत्य है, किन्तु परमात्माकी ऐसी शक्तिके होनेमें क्या प्रमाण है? इस पर कहा जाता है कि—उस अद्वितीय परमात्माकी मायाशक्तिकी सत्तामें अर्थात् उसकी मायाशक्तिके होनेमें वेदोंका प्रामाण्य प्राप्त होता है अर्थात् जगत्के उपादान कारणरूपा विश्वनिर्मातृ मायाशक्तिके सद्भावमें वेद-सम्बन्धी अनेक श्रुति-वाक्योंके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। भाव यह है कि उसकी माया-शक्तिके अस्तित्वमें वेदोंका प्रामाण्य है। ऐसा ही भगवती श्रुति कहती है कि—'परमेश्वर मायासे अनेकरूपोंमें अभिव्यक्त हो गये।' 'इससे मायावी परमात्मा इस विश्वकी रचना करता है।' मायावी पुरुषको महेश्वर जानो।' अपने गुणत्रयसे आच्छादित परमदेवकी आत्मशक्तिको·······।

ऐसा ही गीताशास्त्रमें भगवान् श्रीवासुदेवने कहा है कि—'यह अद्भुत त्रिगुणात्मा मेरी योगमाया बड़ी ही दुस्तर है।' मैं अजन्मा-अविनाशी परमात्मा होकर भी, समस्त भूत-प्राणियोंका परमेश्वर होकर भी अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको अपने वशीभूत कर योगमायासे प्रकट हो जाता हूँ।' यह प्रकृति मेरी अध्यक्षतामें स्थावर-जङ्गम पदार्थोंका सृजन करती रहती है।' और ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है—जिसको अपने आत्मस्वरूपका बोध नहीं है ऐसे पामर जीवोंको तो आपकी यह माया मोह लेती है जिससे मोहासक्त हुआ मूढ व्यक्ति अनात्मवस्तुमें आत्मभाव कर लेता है। इस संसारका सृजन,

एवं तावत् 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इत्यादिना मृत्योः स्वरूपं तस्य कार्यात्मनावस्थानं तन्निमित्तं चानेकानर्थं दर्शयित्वा केन तद्ध्वंस्य विनाश इत्याशङ्क्य 'एवं मृत्युं जायमानम्' इत्यादिना आत्मज्ञानादेवाभयप्राप्ति दर्शितां श्रुत्वा प्रासङ्गिके चोद्यद्वये परिहृते, कर्मस्वभावपरिज्ञानाय प्राह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच

यस्माद्धर्मानाचरन्तीह केचित् तथाधर्मान् केचिदिहाचरन्ति ।
धर्मः पापेन प्रतिहन्यते वा उताहो धर्मं प्रतिहन्ति पापम् ॥२२॥

यस्माद्धर्मान् अग्निहोत्रादीन् आचरन्ति इह लोके केचित् तथा अधर्मान् इह आचरन्ति । किं तेषां धर्मः पापेन प्रतिहन्यते ? उताहोस्विद् धर्मः प्रतिहन्ति पापम् ? अथवा तुल्यबलेनान्यतरेणान्यस्य विनाशः ? इति ॥ २२ ॥

पालन और संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी यह विलक्षण माया है जिसके परिणामसे यह संसार आधेय एवं आधाररूपताको प्राप्त होकर अत्यन्त पीडित हो रहा है। अहो ! भगवान् श्रीकृष्णकी यह अत्यन्त दुस्तर माया है जिसको पार करना ज्ञानहीन प्राणियोंके लिए अत्यन्त कठिन-सा ही है और जिस मायासे संमोहित चित्त हुआ प्राणी परमेश्वरको नहीं जान पाता है।'

इस प्रकार सर्व प्रथम 'मैं प्रमादको ही मृत्यु कहता हूँ।' इस सूत्रांशसे मृत्युके स्वरूपकी तथा उसका कार्यरूपसे अवस्थानको और उसके कारण अनेक प्रकारके उत्पन्न होनेवाले अनर्थको दिखा कर, तब फिर उसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है, ऐसी आशङ्का कर 'इस प्रकार मृत्युको उत्पत्तिशील' इत्यादि सूत्रांशसे आत्मज्ञान द्वारा ही अभयपदकी प्राप्ति सुन करके प्रकृत प्रसङ्गके माध्यमसे ही दोनों शङ्काओंका समाधान कर देने पर, अब धृतराष्ट्रने कर्मकी गतिको जाननेके लिए कहा कि—

धृतराष्ट्र बोले—इस संसारमें कुछ लोग तो धर्मका आचरण करते हैं; जिससे कि पापसे धर्मका पराभव हो जाता है अथवा धर्मसे पापका पराभव होता है ॥ २२ ॥

जबकि कुछ लोग इस लोकमें अग्निहोत्रादिरूप कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। क्या उन लोगोंका धर्म पापकर्मसे विनष्ट हो जाता है ? अथवा धर्म ही पाप कर्मको विनष्ट करनेमे समर्थ है या धर्म एवं अधर्म समान बल से युक्त होनेसे इन दोनोमेंसे किसी भी एक को दूसरा विनष्ट कर देता है ? ॥ २२ ॥

अविदुष उभयोरनुभव एव नान्यतरेणान्यतरस्य विनाशः। विदुषः पुनरुभयोरपि ज्ञानाग्निना विनाश इत्युत्तरमाह—

सनत्सुजात उवाच

तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं हि नित्यं ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम्।
यथान्यथा पुण्यमुपैति देही तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥२३॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—

तस्मिन् पुण्यापुण्यात्मके कर्मणि स्थितोऽपि कुर्वन्नपि उभयं पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म नित्यं नियमेन विद्वान् ज्ञानेन प्रतिहन्ति विनाशयति। कथमेतदवगम्यते ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति? तत्राह—सिद्धं प्रसिद्धं ह्येतच्छ्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु। तथा च श्रुतिः—'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि। 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इति, 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' इति, 'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति। 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' इति। 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इति।

ज्ञानहीन व्यक्तिको तो धर्म और अधर्म इन दोनोंका अनुभव मात्र ही रहता है किसी भी एकसे दूसरेका विनाश होना असंभव है। किन्तु विद्वान् पुरुषके लिए धर्म और अधर्म ये दोनों ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जाते हैं, इस प्रकार इसका उत्तर है—श्री सनत्सुजात बोले—यदि विद्वान् पुरुष धर्म और अधर्मरूप कर्ममें संप्रक्त भी रहना है तो भी नियमानुसार इन दोनोंका संविद्रूप ज्ञानसे विनाश कर देता है, यह बात सत्य है ज्ञानाभावमें जैसे देहधारी जीवात्मा आगामी पुण्यक्रर्मको प्राप्त करता है वैसे पापकर्मको भी प्राप्त करता है, यह भी लोक प्रसिद्ध है ॥ २३ ॥

इस प्रकार धृतराष्ट्रके द्वारा जिज्ञासा करने पर भगवान् श्री सनत्सुजातने कहा कि—ज्ञानी पुरुष इस पुण्य एवं पापरूप कर्ममें व्यापृत रहता हुआ भी पुण्य एवं पापरूपकर्मको नियमतः ज्ञानके द्वारा विनष्ट कर देता है। यह कैसे जाना जाता है कि विद्वान् ज्ञानके द्वारा उभय कर्मोंका विनाश करनेमें समर्थ होता है? इसका यह उत्तर है कि यह तो सर्वजन विदित है और इसका श्रुति स्मृति, इतिहास और पुराण आदिमें भी उल्लेख भी मिलता है। तथा इस विषयमें भगवती श्रुतिका भी कहना है कि इस जीवन्मुक्त पुरुषकी हृदयगत ग्रन्थियाँ खुल जाती है अर्थात् समस्त ज्ञेयवस्तु विषयक सन्देहकी निवृत्ति हो

अथान्यथा ज्ञानविहिनश्चेत् पुण्यमुपैति देही तथागतं पापमुपैति तत्फलं चोपभुङ्क्ते। कथमेतदवगम्यत इति चेत्, तत्राह—सिद्धं प्रसिद्धं ह्येतदपि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु। तथा च श्रुतिः—

'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे सुकृतेन भूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति'॥ इति।
'आनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः'॥ इति।

तथैव वासुदेवः—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥ इति॥२३॥

जाती है। जैसे कमल पत्र पर जलका संसर्गाभाव रहता है इसी प्रकार इस विज्ञातामें पाप कर्मका सम्पर्क नहीं होता है। जैसे इषीकातुल अग्निमें गिरते ही तत्क्षण दग्ध हो जाता है इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषके प्रारब्ध कर्मको छोड़कर समस्त संचित एवं क्रियमाण कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध हो जाता है। तथा विद्वान् पुण्य एवं पापरूप कर्मसे प्रक्षालित होकर विकारहीन सर्वोत्कृष्टभावको प्राप्त हो जाता है। जैसे अश्व अपने शरीरके केशोंको झटका मारता है वैसे ही पापकर्मोंका प्रक्षालन करके। हे! अर्जुन जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्मसात् कर देता है।'

इससे भिन्न स्थितिमें यदि व्यक्ति ज्ञानहीन रहता है तो वह देहधारी जीवात्मा पुण्य कर्मको प्राप्त करता है और पाप कर्मके किये जानेपर पापको प्राप्त करता है और इस कर्मका फल भी भोगता है किन्तु यह कैसे जाना जाता है? इसका उत्तर देते हैं—जबकि यह सिद्ध है अर्थात् यह सर्वजन विदित भी है और श्रुति, स्मृति, इतिहास एवं पुराण आदिमें प्रसिद्ध भी है। ऐसा ही श्रुतिका प्रमाण है 'पामर लोग यज्ञादिरूप इस कर्म और वापीकूपतडागादिरूप पूर्तादि कर्मको ही सर्वोत्तम समझ करके इसके अतिरिक्त किसी अन्यको श्रेष्ठ नहीं मानते हैं, अपने पुण्यकर्मवशात् स्वर्गमें सुख भोग कर पुनः इस लोकमें अथवा इससे भी हीन लोकमें जाते हैं। वे अज्ञानी आनन्दसे रहित लोक अज्ञान अन्धकारसे आच्छादित हैं जो कोई आत्माका हनन करनेवाले प्राणी है वे मरणोत्तर उन्हीं लोकको प्राप्त होते हैं। ऐसा ही भगवान् श्रीवासुदेवने गीताशास्त्रमें कहा है—वेदत्रयमें विदित सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले, सोमरसका पान करनेवाले, पापकर्मोंसे पवित्र हुए मुझे यज्ञों द्वारा पूज कर स्वर्गकी प्राप्तिकी इच्छा

किमविदुषोऽनुभव एवोभयोः, उतान्यतरेणान्यतरस्य विनाश इति, तत्राह—

गत्वोभयं कर्मणा भुज्यतेऽस्थिरं शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणा ।
धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान् धर्मो बलीयानिति तस्य विद्धि ।।२४।।

गत्वा परलोकं प्राप्य उभयं पुण्यापुण्यसाध्यं फलम्, पुण्यापुण्यलक्षणेन कर्मणा भुज्यतेऽस्थिरम् ।

श्रूयते च बृहदारण्यके—

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति' इति । 'अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति' । इति च छान्दोग्ये ।

स चापि सोऽपि विद्वान् धर्मेण कर्मणा पापं प्रणुदति विनाशयति इह लोके विद्वान् वक्ष्यमाणलक्षणो विनियोगज्ञ ईश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठन् । तथा च वक्ष्यति—

करते हैं वे अपने किये हुए पुण्य कर्मवशात् महान् स्वर्गलोकके भोगोंको भोग कर पुण्यकर्मका क्षय हो जाने पर पुन: मर्त्यलोकमें लौट आते हैं ॥ २३ ॥

क्या ज्ञानहीन व्यक्तिको पाप एवं पुण्यरूप इन दोनो कर्मोंका अनुभवमात्र रहता है अथवा किसी एकसे दूसरेका विनाश भी हो जाता है इस पर कहते हैं-

वह कर्म द्वारा परलोकमें पहुँच करके पाप और पुण्यरूप उभयात्मक कर्मसे क्षणभङ्गुर फल भोगता है किन्तु ज्ञानी पुरुष तो इस लोकमें धर्मसे पाप कर्मका विनाश कर देता है, उसके लिए धर्म बलिष्ठ है, ऐसा तुम जानो ।।२४।।

वह कर्मी जीव मरणोत्तर परलोकमें पहुँच कर पुण्य और पापरूप इन दोनों प्रकारके कर्मसे उत्पन्न फलको भोगता है अर्थात् वह कर्मकाण्डी व्यक्ति अपने किये हुए पाप एवं पुण्यरूप कर्मसे नाशवन्त फलको भोगता है । और यह बृहदारण्यक उपनिषद्में सुना जाता है कि—हे गार्गि ! जो ज्ञानी पुरुष इस अक्षर परमात्माको जान करके इस लोकमें हवन करता है । तथा छान्दोग्य उपनिषद्में भी कहा गया है कि जो व्यक्ति परमब्रह्म परमात्माको जैसा है उससे भिन्नरूपमें जानते हैं वे किसी दूसरेके अधिकारमें रहते हैं और विनाशशील लोकोंको प्राप्त होते हैं।

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्स जायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥
ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वानथान्यथा स्वर्गफलानुकाङ्क्षी ।
अस्मिन् कृतं तत्परिगृह्य सर्वममुत्र भुङ्क्ते पुनरेति मार्गम् ॥ इति ।

येषां धर्मे च विस्पर्धा न तद्विज्ञानसाधनम् ।
येषां धर्मे न च स्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम् ॥ इति ।

यश्चैवं विनियोगज्ञ ईश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठति तस्य विदुषो धर्मः पापाद् बलीयान् इति विद्धि विजानीहि । तस्य पुनः केवलकर्मिणो न बलीयान्, तस्योभयोरनुभव एव नान्यतरेणान्यतरस्य विनाशः २४ ॥

केषां तर्हि स्वर्गादिसाधनम् ? केषां वा चित्तशुद्धिद्वारेण ज्ञानसाधनम् ? इति, तत्राह श्लोकद्वयेन—

और वह ज्ञानी पुरुष भी अर्थात् वक्ष्यमाण लक्षणों वाला तथा कर्म विषयक विनियोगको जाननेवाला है अतः परमेश्वरके प्रति समर्पणभावसे कर्मानुष्ठान करता हुआ इस संसार धर्मसे युक्त कर्म द्वारा पापका विनाश कर देता है । इस विषयमें आगे विवेचन किया जायेगा—उसकी प्राप्तिमें हेतुरूप तप और यज्ञ कहे गये हैं तो फिर वह विद्वान् पुरुष इन दोनोंसे पुण्यको प्राप्त करता है पश्चात् पुण्य द्वारा पापको विनष्ट कर ज्ञानमय ज्योतिसे प्रकाशित हो जाता है । उसके अनन्तर वह ज्ञानी पुरुष संविद्रूप ज्ञानसे आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है अन्यथा स्वर्ग सम्बन्धी फलकी इच्छा करनेवाला इस लोकमें संपादित समस्त कर्मोंको ग्रहण कर परलोकमें कर्मजनित फलके भोग लेनेपर पुनः इसी मार्गसे लौट आता है तथा जिन लोगोंकी धर्मके विषयमें स्पर्धाकी भावना रहती है उन लोगोंके लिए तो धर्मानुष्ठान ज्ञानका साधन बन जायेगा किन्तु जिनकी धर्मके विषयमें प्रतिस्पर्धाकी भावना नहीं रहती है, उनके लिए कर्मानुष्ठान ज्ञानका साधन नहीं बन पाता है ।'

और इस प्रकार जो कर्म-सम्बन्धी विनियोगको जाननेवाला पुरुष परमेश्वरके निमित्त कर्मानुष्ठान करता है उस विद्वान् पुरुषके लिए पापसे ही बलिष्ठ धर्मका स्वरूप हो जाता है, ऐसा ही तुम जानो । केवल कर्मकाण्डी व्यक्तिका धर्म उससे बलिष्ठ धर्म नहीं रहता है । उसको तो धर्म और अधर्म दोनोंका ही अनुभव होता है, किसी एकसे दूसरेका विनाश नहीं होता है ॥ २४ ॥

येषां धर्मेषु विस्पर्धा बले बलवतामिव ।
ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य स्वर्गे यान्ति प्रकाशताम् ॥२५॥

येषां विषयपराणां स्वर्गादावुर्वश्यादिभोगश्रवणात् तत्साधनभूतज्योतिष्टोमादिधर्मेषु विस्पर्धा संघर्षो वर्तते—अस्मादहमुत्कृष्टतरं धर्मं कृत्वा अस्मादपि सुखी भूयासमिति । बले बलवतामिव, यथा बलवतो राज्ञो बलवन्तं राजानं दृष्ट्वा अहमस्मादपि बलवत्तां सम्पाद्यैनं जित्वा अस्मादपि सुखी भूयासमिति संघर्षो वर्तते तद्वत् । ते फलसङ्गसहिता ब्राह्मणा यज्ञादिकारिण इतः प्रेत्य धूमादिमार्गेण गत्वा स्वर्गे नक्षत्रादिरूपेण यान्ति प्राप्नुवन्ति प्रकाशतां प्रकाशम् । श्रूयते च—'अथ य इमे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति' इत्यारभ्य

ऐसी स्थितिमें फिर किन्हीं लोगोंके लिए धर्म स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिका साधन माना जाय ? अथवा किन्हीं लोगोंके लिए अन्तःकरणकी विशुद्धिके द्वारा ज्ञानकी प्राप्तिका साधन हो सकता है, इसपर दो श्लोकोंसे समाधान दिया जाता है—

जैसे बलिष्ठ पुरुषोंकी बलमें प्रतिस्पर्धा देखी जाती है वैसे जिन लोगोंकी धर्मके विषयमें प्रतिस्पर्धा रहती है, वे ब्राह्मणलोग यहाँसे प्रस्थान कर स्वर्गमें प्रकाश प्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥

जिन विषयलोलुप प्राणियोंको स्वर्गादि लोकोंमें उर्वशी आदि अप्सराओंके रूपमें विषयभोगोंकी प्राप्ति होती है, ऐसा सुन कर उन भोगोंको प्राप्तिके साधनभूत ज्योतिष्टोमादि कर्मानुष्ठानोंको करते हुए उनमें परस्पर विस्पर्धा-संघर्षकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि मैं इससे उत्कृष्टतर कर्मानुष्ठान कर इससे भी अधिक सुखी हो जाऊँ । जैसे बलमें बलिष्ठ पुरुषोंका अर्थात् जिस प्रकार सब प्रकारसे सैन्यादिरूप बलसे सम्पन्न चक्रवर्ती राजा अपनेसे भिन्न किसी बलिष्ठ राजाको देख कर प्रतिस्पर्धा करने लगता है कि मैं इससे भी अधिक सुखी हो जाऊँ । इसी प्रकारका व्यवहार जगत्में भी संघर्ष देखा जाता है । अत एव जिन विद्वान् पुरुषोंकी कर्मके विषयमें प्रतिस्पर्धाकी भावना निहित है वे कर्मजनित फलमें आसक्ति रखनेवाले ब्राह्मण यज्ञके अधिकारी लोग शरीर पतनके पश्चात् इस लोकसे प्रस्थान कर धूमादि मार्गसे गमन करते हुए, स्वर्गलोकमें पहुँच जानेपर नक्षत्रादिरूपसे प्रकाशधर्मको प्राप्त करते हैं । इस विषयमें भगवती श्रुति कहती है कि—कर्मीलोग यज्ञादिरूप इष्ट, वाणीकूपतडागादिरूप पूर्त और दानरूपसे उपासना करते हैं वे धूममार्गको प्राप्त करते हैं । यहाँसे लेकर यह

'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इति ॥ २५ ॥

येषां धर्मे न च स्पर्द्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम् ।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम् ॥२६॥

येषां विषयानाकृष्टचेतसामनित्यफलसाधनज्योतिष्टोमादौ धर्मे न च स्पर्धा संघर्षो न वर्तते तेषां फलनिरपेक्षमीश्वरार्थं कर्मानुष्ठानवतां तद् यज्ञादिकं कर्म चित्तशुद्धिद्वारेण ज्ञानसाधनम् । वक्ष्यति च भगवान् स्वयमेव शुद्धिद्वारेणैव ज्ञानसाधनत्वम्—'पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्स जायते ज्ञानविदीपितात्मा' इति । ये यज्ञादिभिर्विशुद्धसत्त्वाः परमात्मानमात्वेनावगच्छन्ति, ते ब्राह्मणा इतोऽस्मात्कार्यकारणलक्षणाल्लोकात्प्रेत्य मुक्ताः स्वर्गं सुखं पूर्णानन्दं ब्रह्म यान्ति । इतरतः स्वर्गादस्य वैलक्षण्यमाह—त्रिविष्टपमिति । त्रिभिराध्यात्मिकादितापैः

प्रकामान सोम है वह देवताओंका अन्न है, उसको देवतालोग भक्षण करते हैं, वे कर्मीलोग उस दिव्यलोकमें कर्मफलके विनाशपर्यन्त रह कर पुनः इसी धूममार्गसे वापस लौट आते हैं ॥ २५ ॥

तथा जिन लोगोंकी धर्मके विषयमें प्रतिस्पर्धाकी भावना नहीं रहती है, उनके लिए निष्कामकर्मादि ज्ञानकी प्राप्तिमें साधनरूप बन जाते हैं। इसलिए वे ब्राह्मणलोग इस लोकसे विमुक्त होकर त्रिविष्टिप नामक स्वर्गलोकको जाते हैं ॥ २६ ॥

जिन विद्वान् पुरुषोंके चित्तमें विषयोंके प्रति अनासक्तभाव हो गया है तथा अनित्य क्षणभङ्गुर फलके साधनभूत ज्योतिष्टोमादि धर्मोंमें प्रतिस्पर्धासंघर्षका भाव नहीं रहा है। कर्मजनित फलकी अपेक्षासे रहित केवल परमेश्वरके निमित्त कर्म करनेवाले उन विद्वज्जनोंका जो यज्ञादिरूप कर्म है वह अन्तःकरणकी विशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका साधन बन जाता है। और इस विषयमें भगवान् स्वयमेव चित्तकी विशुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्तिमें साधनभूत उन कर्मोंका निर्वचन करेंगे–'वह विद्वान् पुरुष पुण्यात्मक कर्मके बाहुल्यसे पापकर्मकी निवृत्ति कर ज्ञानसे प्रकाशरूपताको प्राप्त कर लेता है।' जो विद्वान् यज्ञादि कर्मसे विशुद्ध अन्तःकरण हुए परमब्रह्म परमात्माको अपने आत्मरूपसे साक्षात्कार कर जान लेते हैं। वे ब्राह्मणलोग इस कार्य-कारणात्मक लोकसे प्रस्थान कर लेनेपर विमुक्तभावको प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ स्वर्गविषयक सुखस्वरूप परिपूर्णानन्द परमात्माको पा लेते हैं। श्लोकमें उद्धृत 'त्रिविष्टिप'

सत्त्वादिभिर्जाग्रदादिभिर्वा विमुक्तं स्वरूपाविष्टं पातीति त्रिविष्टपम्। अथवा, तैर्विष्टमधिकारिणं पातीति त्रिविष्टपमिति ॥ २६ ॥

इदानीं विदुषः समाचारमाह—

तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् ॥२७॥

तस्य विरक्तस्य विदुषः सम्यक् समाचारं वेदविदो जना विद्वांस आहुः। नैनं योगिनं मन्येत चिन्तयेद् भूयिष्ठं बहु बाह्यमाभ्यन्तरं जनम्। पुत्रमित्रकलत्राद्याभ्यन्तरम, इतरद् बाह्यम। यथा पुत्रमित्रादयो न गृह्णन्ति तथा तेषामगोचर एव वर्तत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

इस अंश द्वारा दूसरे स्वर्गसे इसकी विलक्षणता बतलायी है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तापत्रयसे, सत्त्व, रज और तम इन गुण-त्रयसे अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन अवस्थात्रयसे विमुक्त होकर अपने स्वरूपमें समाहित हुए पुरुषका जो पालन करता है इसीसे वह त्रिविष्टिप कहलाता है। अथवा उक्त सब भावोंसे सम्पन्न अधिकारी पुरुषको रक्षा करता है उसका नाम भी त्रिविष्टिप है ॥ २६ ॥

सम्प्रति ज्ञानी पुरुषके विषयमें आचार-विचारविषयक विवेचन किया जा रहा है—

वेदज्ञ पुरुषोंने उस ज्ञानीके आचरणका भली प्रकार विवेचन किया है। लोग बाह्य और आन्तर व्यवहारमें बहुधा इस ज्ञानीको स्वीकार नहीं करते हैं ॥ २७ ॥

वेदतत्त्वको जाननेवाले विद्वज्जनोंने उस विरक्त ज्ञानी पुरुषका आचरणके विषयमें अच्छी प्रकारसे विवेचन किया है। तथा इस योगी पुरुषको पारिवारिक और बाहरी सभी लोग अधिकतर महत्त्व नहीं देते हैं; क्योंकि उसकी आन्तर-चर्याको जानना उन पामर लोगोंके लिए अत्यन्त कठिन-सा ही है इसलिए उसकी विशेषताका आकलन सांसारिक लोग नहीं कर पाते हैं। पुत्र, मित्र, कलत्र आदि सभी पारिवारिक सदस्य निकटवर्ती आन्तरिक व्यक्ति कहलाते हैं और इसके अतिरिक्त सभी लोग बाहरी माने जाते हैं। भाव यह है कि पुत्र, मित्र एवं कलत्रादि उसकी साधन-चर्याको जान न लें, इसलिए कुछ भिन्न प्रकार का ही आचरण करता हुआ यह ज्ञानी पुरुष उन पारिवारिक लोगोंकी दृष्टिको बचाता हुआ अपनेमें समाहित होकर रहता है ॥ २७ ॥

कीदृशे देशेऽस्य वास इत्याह—

यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोदकम् ।
अन्नपानं च विप्रेन्द्रस्तज्ज्ञो वेन्नानुसंज्वरेत् ॥२८॥

यत्र यस्मिन् देशे मृगचोरादिपीडारहिते अन्नपानादि भूयिष्ठं बहुलं वर्तते इति मन्येत प्रावृषीव तृणोदकं बहुलं भवति तद्वत् । तृणोलपमिति केचित्– 'तृणोलप इति ख्यातो मुनिभोज्यौदनादिषु' इति वदन्ति । दूर्वाविशेष इति केचित् । तत्र स्थित्वा तदन्नपानादिकमुपजीवेत् । नानुसंज्वरेत् संतप्तो न भवेत् । अन्यथा अन्नपानादिरहिते देशे कथं नाम देहयात्रा सिद्ध्येदिति संतप्तो भवेत्, ततश्च न योगसिद्धिः ॥ २८ ॥

तत्राप्येवंविधजनसमीपे वास इत्याह—

यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम् ।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन् स श्रेयान् नेतरो जनः ॥ २९ ॥

यत्र यस्मिन् देशेऽकथयमानस्य तूष्णींभूतस्य स्वमाहात्म्यं प्रच्छादयतो

इस ज्ञानी पुरुषको आवास किस स्थानमें करना समुचित है, इसपर कहते हैं--

तत्त्ववेत्ता विप्रलोगको उचित है कि वे उसी स्थानको वरण करें जहाँपर वर्षा ऋतुमें तृण एवं जलको भाँति फलाहारका आधिक्य प्रतीत हो, शरीरको अनावश्यक पीडा न पहुँचावे ॥ २८ ॥

हिंसक, पशु जीव-जन्तु आदि और चौरादि-संस्कारहीन पामर प्राणियोंके मध्यमें न रहे तथा उपद्रवरहित शान्त-सौम्य वातावरण हो और शरीर-निर्वाहके लिए पर्याप्त खाद्यादि सामग्रीकी समयानुसार सुविधा होती रहे । वर्षाकालमें तृण एवं जलकी भाँति साधकको अपनी साधनामें शरीर निर्वाहार्थ उपयोगी साधन-सामग्रीकी सहज प्राप्ति हो सके ऐसे प्राकृतिक सुषमासे युक्त स्थानमें निवास करें। मुनिजनोंके लिए अन्न-पानादिके अर्थमें 'तृणालप' शब्दका प्रयोग होता है इस प्रकार कोषकारके अनुसार कुछ लोग 'तृणालप' पदका पाठान्तर तृणोपल भी कर देते हैं इसलिए उसे दूर्वाविशेषके अर्थमें भी प्रयुक्त करते हैं । अनुसंज्वरित-किसी भी प्रकारका संताप प्राप्त न हो । यदि उक्त प्रकारका सुविधाजनक स्थान-वातावरण न होगा तो अन्न पानादिसेरहित प्रदेशमें साधक पुरुषकी जीवन-यात्रा कैसे चलेगी ? भावार्थ यह है कि यदि साधनाकालमें संतापपूर्ण वातावरण रहेगा तो उससे योगसिद्धि नहीं हो पायेंगी ॥ २८ ॥

येन केनचिदाच्छन्नस्य येन केनचिदाशितस्य यत्र क्वचनशायिन आत्मानमेव लोकं पश्यतो जडमूकबालपिशाचादिवत्संचरतः परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम् अशिवमकल्याणमवमानादिकं प्रयच्छति तथा अतिरिक्तमिवाकुर्वन्—यथा कश्चित् स्थितप्रज्ञलक्षणज्ञो ब्रह्मविदित ज्ञात्वा प्रणिपातनमस्कारादिपूर्वकमीश्वरबुद्ध्या पूजयति तद्वदज्ञाततया अतिरिक्तं ब्राह्मणजाति मात्रप्रयुक्तपूजातिरिक्तं पूजान्तरं ब्रह्मविदनुरूपमकुर्वन्नवमानादिकमेव कुर्वन् यो जनः सोऽस्य विदुषः श्रेयान् । नेतरो यः प्रणिपातादिपूर्वकमीश्वरबुद्ध्या सम्पूजयति । तथा चाह भगवान् मनुः—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥

उस स्थानमें भी ज्ञानी पुरुषको उक्त प्रकारके लोगोंके समीप ही रहना समुचित समझा जाता है, इस पर कहते हैं—

जहाँपर निवास करते हुए उसके साथ लोग अभद्र और उपेक्षापूर्ण व्यवहार करते रहे और इससे भिन्न सत्कारादि भी न करे, ऐसे लोग ही उसके लिए श्रेष्ठ है, दूसरे नहीं, जो उसका सम्मान करते हैं ॥ २९ ॥

जिस एकान्त निर्जन प्रदेशमें मौनावलम्बी होकर शान्तभावसे रहते हुए अपने माहात्म्यको प्रकट न करते हुए; जिस किसी भी व्यक्तिके द्वारा उसके लिए वस्त्रको व्यवस्था कर देना, जिस किसीके द्वारा भोजन करवाना, जहाँ कहीं भी पड़े रहना और आत्मप्रकाशको ही देखना, जड, मूक, बालक एवं पिशाचादिके समान घूमते रहना ऐसे परमहंस परिव्राजकाचार्यके प्रति लोग अशिव-अकल्याण अर्थात् तिरस्कारादिके भावसे व्यवहार करे तथा इसके विपरीत व्यवहार न करे । जैसे कि कोई स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षणको जाननेवाला व्यक्ति 'यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष है ।' ऐसा उसके आचरणसे परिज्ञान प्राप्त कर, उसके प्रति दण्डवत् प्रणाम एवं श्रद्धा भक्तिपूर्वक ईश्वर बुद्धिसे पूजन करता है, उसके समान जा लोग अज्ञातरूपसे ब्राह्मणजाति-मात्रके लिए प्रयुक्त पूजाके अतिरिक्त ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अनुरूप दूसरे प्रकारकी पूजा नहीं करता है, वह व्यक्ति ही इस ज्ञानी पुरुषके लिए सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है किन्तु जो प्रणिपातादिपूर्वक ईश्वरबुद्धिसे पूजन करते हैं वे लोग हो इसके लिए उपयुक्त भी है—इससे भिन्न नहीं, ऐसा ही भगवान् मनुने भी कहा है कि—ब्रह्मवेत्ता पुरुष सम्मान आदिसे सदा दूर ही रहें और तिरस्कारका सदा अमृतवत् इच्छा करते

इति। तथा चाह भगवान् पराशरः—

सम्मानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥ इति ॥ २९ ॥

कीदृशस्य तर्ह्यन्नं भोज्यमित्याह—

यो वाऽकथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत्।
ब्रह्मस्वं नोपहन्याद् वा तदन्नं सम्मतं सताम् ॥ ३० ॥

यो वा अकथयमानस्य तूष्णींभूतस्य सर्वोपसंहारं कृत्वा पूर्णानन्दात्मना अवस्थितस्य आत्मानं नानुसंज्वरेत्—न तापयेत्, ब्रह्मस्वं नोपहन्याद्वा—ब्रह्मनिष्ठासाधनभूतं चैलाजिनकुशपुस्तकादिकं नोपहन्याद्वा। तथा चोक्तम्—

रत्नहेमादिकं नास्य योगिनः स्वं प्रचक्षते।
कुशवल्कलचैलाद्यं ब्रह्मस्वं योगिनो विदुः ॥

रहें। और भगवान् पराशरमुनिका भी यही कथन है कि—जिससे योगीकी आत्मसिद्धिके लिए सम्मान अत्यन्त हानिकारक है और जनसमुदायसे तिरस्कृत हुआ योगी पुरुष अपनी योगसिद्धिमें अविलम्ब ही सफलता पा लेता है ॥ २९ ॥

ऐसी स्थितिमें ज्ञानीके लिए कैसे लोगोंका अन्न-पानादि ग्रहण करना समुचित समझा जाय ? इसका उत्तर देते हैं—

जो पुरुष मौनभावसे रहनेवाले सन्तके चित्तमें किसी भी प्रकारका विक्षेप उत्पन्न न करता हो और ब्रह्मनिष्ठामें बाधा न पहुँचाता हो उसका अन्न सज्जनोंको ग्रहण करना चाहिए ॥ ३० ॥

जो पुरुष अन्य किसी भी प्रकारके व्यापारमें नहीं जुड़ा हुआ है और समस्त बाह्यवृत्तियोंको बाह्यविषयोंसे अपनेमें समाहित करता हुआ रहता है तथा परिपूर्ण आनन्दरूपसे अपने आत्मस्वरूपमें अवस्थित रहनेवाले इस ज्ञानी पुरुषके चित्तको संताप न पहुँचावें अर्थात् किसी भी प्रकारसे सन्तके चित्तमें विक्षेप उत्पन्न हो ऐसा कार्य न करे इसके ब्रह्मभावको विनष्ट न करें अथवा ब्रह्मनिष्ठाके साधनभूत वस्त्र, मृगचर्म, कुशासन, एवं ग्रन्थादिको विनष्ट न करता हो। और ऐसा ही कहा गया है कि—यद्यपि ज्ञानीके लिए रत्न एवं सुवर्णादि साधन नहीं है किन्तु उसकी ब्रह्मनिष्ठामें उपयोगी साधन-सामग्री तो कुश, वल्कल एवं चीरवस्त्रादि ही है, वस्तुतः इसको ब्रह्मनिष्ठ भी कहा जाता है।

इति अन्यदपि ब्रह्मस्वं ब्राह्मणस्वं नोपहन्याद्वा—तदन्नं तस्यान्नं सम्मतं सतां भोज्यत्वेन ॥ ३० ॥

पुनरपि तस्यैव समाचारमाह—

नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः ।
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये नैव विन्देत किंचन ॥ ३१ ॥

नित्यं नियमेन अज्ञातचर्या गूढचर्या मे मम कर्तव्येति मन्येत ब्राह्मणो ब्रह्मवित् । ज्ञातीनां पुत्रमित्रकलत्रादीनां मध्ये संनिधौ वसन्नैव विन्देत प्रतिपद्येत किंचन किंचिदपि ।

कश्चनेति केचित् । पुत्रमित्रकलत्रादिकं परित्यज्य केवलं स्वात्मनिष्ठो गूढचर्यो भवेदित्यर्थः ।

तथा च श्रुतिः—

कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेन्मुनिः ॥

इस प्रकार उक्त साधन-समूहके अतिरिक्त जो दूसरे ब्रह्मस्व-ब्राह्मणत्व स्वभावका उच्छेद न करता हो । इसलिए उस विवेकी व्यक्तिका अन्न-पानादि ज्ञानी पुरुषों के लिए खाद्यरूपसे ग्रहण करना समुचित है ॥ ३० ॥

आगे भी ज्ञानीपुरुषके आचार-विचारका विवेचन किया जा रहा है—

ब्रह्मवेत्ताका यह परम कर्तव्य है कि परिवारिक सदस्योंके बीचमें रहते हुए भी मेरी नियमितरूपसे साधना गोपनीय रहे और किसी भी वस्तुको अपना स्वरूप न माने ॥ ३१ ॥

ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण पुरुष ऐसा माने कि मेरी परमार्थरूपा अज्ञातचर्या गोपनीयरूपसे नियमपूर्वक निरन्तर चलती रहे । पुत्र, मित्र, कलत्र आदि अपने पारिवारिक सदस्योंके बीचमें-सन्निधिमें व्यवहार करता हुआ वह ब्रह्मवेत्ता किसीको भी अपना स्वरूप न समझे । कुछ लोग 'कश्चन' ऐसा पाठान्तर करते हुए इसको पढ़ते हैं । विवेकी पुरुष पुत्र, मित्र और कलत्रादिकोंका भी परित्याग कर केवल अपने आत्मस्वरूप समाहित होकर रहें । यही भावार्थ है । ऐसा ही श्रुतिका कथन है कि—'तत्त्वज्ञानविषयक मनन करनेवाले मुनि कुटुम्ब, पुत्र, पत्नी एवं सब प्रकारसे षडङ्गपूर्वक वेदशास्त्र, यज्ञ और यज्ञोपवीतका परित्याग कर अत्यन्त गोपनरूपसे विचरण करते रहें ।'

तथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः ॥
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥

इति । ईदृशस्यैव ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिलक्षणो मोक्षो नान्यस्य, विक्षेप-बाहुल्यादिति भावः ।

अथवा, 'नित्यमज्ञातचर्या मे अज्ञाते चक्षुराद्यविषयभूते वाचामगोचरेऽनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थितेऽशनायाद्यसंस्पृष्टे पूर्णानन्दस्वरूपे सर्वान्तरे प्रत्यग्भूते ब्रह्मणि चर्या निष्ठा समाधिलक्षणा मे मम कर्तव्या, न पराग्भूत-देहेन्द्रियपुत्रमित्रकलत्रादौ स्थूलोऽहं कृशोऽहं गच्छामि तिष्ठामि क्लीबः काणः मूको बधिरोऽमुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं भार्या मे पुत्रो मे विभवो मे स्निग्धबन्धुसुहृदः—इत्येवमात्मिका कर्तव्या' इति मन्येत ब्राह्मणो ब्रह्मवित् । तथा च श्रुतिः—'यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति, तदेव ब्रह्म' इति ।

और भगवान् वसिष्ठने भी कहा है कि—जो कोई सन्त, असन्त, विद्वान्, अविद्वान्, सदाचारी और दुराचारीको जानता है वस्तुतः वह तत्त्ववेत्ता पुरुष ही ब्राह्मण कहलाता है; क्योंकि मेधावी पुरुष सब कुछ जानते हुए भी संसारमें जडवत् आचरण करें । भावार्थ यह है कि उक्त प्रकारके लक्षणवाले पुरुषको ही ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्तिरूप मोक्ष सुलभ हो सकता है; क्योंकि अन्य लोगोंके चित्तमें विक्षेप अधिक है इसलिए किसी दूसरेको नहीं मिल सकता है ।

अथवा मेरी अज्ञात चर्चा हो ।' इस वाक्यसे यह विज्ञापित हो रहा है कि जो अज्ञात-चक्षुरादिका अविषय, वाणीसे अकथनीय, मनसे अचिन्तनीय और उदय-अस्तभावसे रहित संविद्रूप ज्ञानप्रकाशमें अवस्थित, प्राणके धर्म क्षुत्पिपासादिसे रहित जो परमानन्दस्वरूप, सर्वान्तर एवं प्रत्यग्रूप है उसे परम-ब्रह्म परमात्मामें चर्या अर्थात् समाधि लक्षणवाली स्थिति करनी चाहिए । मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं जाता हूँ, मैं बैठा हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं काणा हूँ, मैं बधिर हूँ, उसका मैं पुत्र हूँ, इसका मैं नाती हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ; मैं क्षत्रिय हूँ, मेरी भार्या है, मेरा पुत्र है, मेरा ऐश्वर्य, मेरे स्नेही बन्धु-बान्धव हैं, इस प्रकारकी देहेन्द्रिय, पुत्र, मित्र, कलत्रादि सांसारिक वस्तुओंमें मिथ्यानिष्ठा नहीं रखनी चाहिए । ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण मानता हुआ आचरण करें । इस विषयमें भगवती श्रुति भी कहती है कि—जिसको चक्षु इन्द्रियसे प्रत्यक्षका विषय नहीं किया जा सकता है किन्तु जिससे चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापारको

यस्मादेवमज्ञात एव ब्रह्मणि निष्ठा कर्तव्या तस्माद् ज्ञातीनाम्—

क्रोधमानादयो दोषा विषयाश्चेन्द्रियाणि च।
एत एव समाख्याता ज्ञातयो देहिनस्तव॥

इतीन्द्रियादीनां ज्ञातिशब्देनोक्तत्वादिन्द्रियादीनां मध्ये वसन् पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्गच्छन् अश्नन् मन्यमानो विजानन्नपि नैवमात्मानं प्रमात्रादिरूपेण विन्देत प्रतिपद्येत, तत्साक्षित्वादात्मनः। तथा च श्रुतिः—'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' इति। देहद्वयतद्धर्मानात्मत्वेन न गृह्णीयादित्यर्थः॥ ३१॥

कस्मात् पुनरेवं न गृह्यत इत्याह—

को ह्येवमन्तरात्मानं ब्राह्मणो मन्तुमर्हति।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम्॥ ३२॥

को हि निर्लिङ्गं स्थूलसूक्ष्मवर्जितम् अचलं क्रियाकर्त्रादिशून्यं शुद्धम् अविद्यादिदोषरहितं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम् अशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्यु-

सम्पादित करती हैं, वस्तुतः वही ब्रह्म है।' जबकि इस प्रकार तत्त्ववेत्ताको अज्ञात ब्रह्ममें निष्ठा करनी चाहिए। इसलिए ज्ञानियोंके लिए क्रोध और सम्मानादि दोष, विषय एवं इन्द्रियाँ ये ही सब तुझ देहधारीके लिए ज्ञाति शब्दसे प्रसिद्ध हैं।' इस प्रकार इन्द्रियादिको ही 'ज्ञाति' शब्दसे प्रयोग किया गया है। इसलिए इन्द्रियोंके बीचमें रहते हुए घ्राणेन्द्रियसे गन्धको ग्रहण करते हुए, गमन करते हुए, भोजन करते हुए माननेवाला यह जानता हुआ भी अपने आत्माको प्रमातादिरूपसे न जाने। इसलिए कि आत्मा तो उन सबका साक्षी है। ऐसा श्रुति का कथन है--जो व्यक्ति यह जाने कि मैं ही सूँघता हूँ, वह आत्मा है। जिससे कि स्थूल-सूक्ष्म ये दोनों शरीर और उनके धर्मोंको आत्मभावसे ग्रहण न करें, यही कहनेका अभिप्राय है॥ ३१॥

जब ऐसी बात है तब फिर आत्माका ग्रहण क्यों नहीं होता है? इसका समाधान करते हैं—

जो लिङ्गशून्य, अचल, समस्त राग-द्वेषादि धर्मोंसे विमुक्त अन्तरात्माको कौन ब्रह्मवेत्ता दृष्टिगोचर कर सकता है?॥ ३२॥

जो निर्लिङ्ग अर्थात् उसके ज्ञापक होनेमें कोई भी चिह्न नहीं है यह ऐसा ही है और उसका स्वरूप स्थूल-सूक्ष्मके भेदसे रहित है। इसलिए वह परमतत्त्व

शीतोष्णसुखदुःखादिधर्मविवर्जितम् अन्तरात्मानं सर्वान्तरं प्रमात्रादिसाक्षिणमात्मानं मानाविषयभूतम् एवम् उक्तेन प्रकारेण देहद्वयतद्धर्मतया 'स्थूलोऽहं कृशोऽहं गच्छामि पश्यामि मूको बधिरः काणः सुख्यहं दुःख्यहम्' इति ब्राह्मणः सन् मन्तुमर्हति। तथा सति ब्राह्मणत्वमेव हीयेत इत्यर्थः। वक्ष्यति च—'य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया' इति ॥ ३२ ॥

यस्त्वेवं मनुते स पापीयानित्याह—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥ ३३ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानं ज्ञानात्मना निर्लिङ्गममलं शुद्धं सर्वद्वन्द्वविवर्जितं

अचल माना जाता है। कर्ता और क्रिया आदिसे रहित होनेके कारण अविद्या आदि दोषोंसे लिप्त भी नहीं रहता है। अतएव वह विशुद्ध विमल तत्त्व है। समस्त राग द्वेषादि द्वन्द्वोंसे शून्य होनेके कारण क्षुत्पिपासा, हर्ष, शोक, जरा-मरण, शीत-ऊष्ण, सुख-दुःख और मोह आदि अनित्य धर्मोंसे असंपृक्त रहता है और अन्तरात्मा सबके भीतर स्थित प्रमातादिके साक्षिरूप कूटस्थ आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका भी अविषय ही है। इस प्रकार उक्त प्रकारसे स्थूल एवं सूक्ष्म ये दोनों प्रकारके शरीर और उनके अनित्यादि धर्मोंसे युक्त होनेसे कौन ब्रह्मवेत्ता पुरुष होनेपर भी उस भूमा परमात्माके विषयमें मिथ्या कल्पना कर विषयरूपसे यह मान लेगा कि मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं गमन करता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं मूक हूँ, मैं बधिर हूँ, मैं काणा हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इस प्रकारसे अन्तःकरणके अनित्य धर्मोंमें तत्त्वज्ञ पुरुष किसी भी स्थितिमें विषयदृष्टि नहीं करेगा। यदि ऐसी उसकी भावना है तो वह अपने ब्रह्मस्वभावसे प्रच्युत हो जायेगा यही इसका तात्पर्य है। और इस विषयमें आगे विवेचन किया भी जायेगा। जो सद्रूप आत्मतत्त्वसे प्रच्युत नहीं होता है, वस्तुतः वही ब्रह्मवेत्ता है, ऐसा तुम जानो ॥ ३२ ॥

किन्तु इस प्रकार जो व्यक्ति आत्माके विषयमें मिथ्या कल्पना कर लेता है वह तो बड़ा पापी कहलायेगा—जो चिद्रूप आत्माको जडरूपसे ग्रहण करता है उस आत्मघाती चोरसे कौन-कौन-सा पाप नहीं होता है? ॥ ३३ ॥

जो अन्य प्रकारका होता हुआ भी आत्माको उससे विपरीत भावसे

चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना सन्तं स्वमात्मानम्, अन्यथा देहद्वयतद्धर्मात्मतया 'कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी स्थूलोऽहं कृशोऽहं अमुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहम्' इत्येवमात्मना प्रतिपद्यते किं तेन मूर्खेणानात्मविदा आत्मचोरेणा-त्मापहारिणा न कृतं पापम् । महापातकादि सर्वं तेनैव कृतमित्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

इति । तथा चोक्तम्—

ब्राह्मण्यं प्राप्य लोकेऽस्मिन् मूको वा बधिरो भवेत् ।
नापक्रामति संसारात् स खलु ब्रह्मघातकः ॥

इति । तस्माद्विषयभूतदेहेन्द्रियादिष्वात्मभावं परित्यज्य अज्ञात एव वागाद्यगोचरे परमात्मनि निष्ठा कर्तव्येत्यर्थः ॥ ३३ ॥

ग्रहण करता है । संविद्रूप, अलिङ्ग, अमल, विशुद्ध और समस्त राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे विमुक्त तथा सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप अपने आत्माको जानता हुआ भी उसे भिन्न प्रकारसे अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंसे युक्त एवं उनके अनित्यधर्मोंसे संपृक्त मान लेता है । जैसे मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी हूँ । मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं उसका पुत्र हूँ, मैं इसका नाती हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, इन कल्पितरूपोंमें ग्रहण करता है । उस आत्मचोर, आत्माका अपहरण करनेवाले मूढ अनात्मज्ञ व्यक्तिके द्वारा कौन-सा पाप नहीं हुआ है ? आशय यह है कि उसीके द्वारा यहाँ समस्त पातकादि कर्म होता है ? इस विषयमें ईश-उपनिषद्का उल्लेख किया जा रहा है कि—'वे असुर सम्बन्धी अज्ञानात्मक लोक तपसे आच्छादित हैं इसलिए ये आत्मघाती लोग मरणोत्तर उन्हीं लोकको प्राप्त होते हैं ।' और ऐसा ही कहा गया है—विद्वान् पुरुषका यह परम कर्त्तव्य है कि वह इस लोकमें रहता हुआ ब्रह्मनिष्ठाको प्राप्त करे और बहिर एवं मूक प्राणीकी भाँति लौकिक-व्यवहार करता हुआ सभीसे उपराम रहे, जो इस संसारसे विमुक्ति नहीं पाता है निःसन्देह वह व्यक्ति आत्मघाती कहलाता है ।' इसलिए विषयरूप देहेन्द्रियोंमें आत्मभावको छोड़ करके वागादि इन्द्रियोंके अविषय अज्ञातरूप परमब्रह्म परमात्मामें निष्ठा-स्थिति करनी चाहिए, यही आशय है ॥ ३३ ॥

अन्यथा देहेन्द्रियतद्धर्माननुपादतः किं भवतीत्यत आह—

अश्रान्तः स्यादनादाता सम्मतो निरुपद्रवः।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः॥ ३४॥

योऽनादाता अनात्मभूतदेहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन नोपादत्ते स पुरुषोऽश्रान्तः स्यात्—संसारश्रमयुक्तो न भवेत्, अशनायादेर्देहादिधर्मत्वात्। तथा च श्रुतिः—'अशनायापिपासे प्राणस्य शोकमोहौ मनसो जरामरणे शरीरस्य' इति। देहद्वयाध्यासे हि तद्धर्माध्यासो भवति। एवमश्रान्ततया निरुपद्रवो भवति। क्रोधहर्षलोभमोहादयोऽन्तराया उपद्रवाः, तद्धीनो निरुपद्रवः, स सम्मतः शिष्टत्वेन विद्वद्भिः सम्मतः शिष्टवन्न स्यात्, न आचरेत्, जडवच्चरेद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्कविः॥ ३४॥

यदि विवेकी पुरुष देहेन्द्रिय और उनके धर्मोंको आत्मभावसे ग्रहण नहीं करता है, तो उससे क्या अन्तर पड़ता है ? इसपर कहते हैं—

जो अनात्मधर्मोंका न ग्रहण करनेवाला व्यक्ति, श्रमसे रहित एवं निरुपद्रव शान्त हो तथा शिष्टजनोंके द्वारा शिष्टवत् देखे जानेपर भी वह तत्त्ववेत्ता क्रान्तदर्शी ब्राह्मण उन सब लोगोंके बीचमें रहता हुआ लौकिक-व्यवहार करता रहें॥ ३४॥

जो अन्नदाता-अनात्मभूत शरीर, इन्द्रिय और उन सबके अनित्य-धर्मोंको आत्मरूपसे ग्रहण नहीं करता है वह विद्वान् पुरुष अश्रान्त-श्रमशून्य हो जाय अर्थात् सांसारिक प्रवृत्तियोंसे पृथक् होकर अपनी अज्ञातचर्यामें लगा रहे; क्योंकि क्षुत्पिपासादि तो देहादिके धर्म हैं। ऐसा ही भगवती श्रुतिका कथन है कि--क्षुधा और पिपासा प्राणके धर्म हैं, शोक एवं मोह अन्तःकरणके धर्म हैं, और जरा एवं मृत्यु शरीरके धर्म हैं; जबकि स्थूल-सूक्ष्म इन दोनों प्रकारके शरीरोंके मिथ्या अध्यास होनेपर ही उनके धर्मोंका प्राणी अपनेमें अध्यारोप कर लेता है इसलिए अनात्मवस्तुमें आत्माका और आत्मवस्तुमें अनात्मताकी मिथ्या कल्पना करता है। इस प्रकार संसारकी समस्त बाह्यवृत्तियोंमें असंपृक्त रहता हुआ श्रमसे रहित होकर समाहित हो जाता है। इसीसे निरूपद्रव शान्त-भावमें स्वभावतः स्थिति हो जाती है। यद्यपि अपनी स्वरूपनिष्ठामें काम, क्रोध एवं मोह आदि दोषोंका विघ्नरूपसे उपस्थित होना ही उपद्रव है और उन दोषोंसे रहित हो जानेपर वह निरुपद्रव शान्तभावमें प्रतिष्ठत हो जाता है, उस व्यक्तिको शिष्टजनोंके द्वारा भद्र माना जाता है, किन्तु वह ज्ञानी पुरुष

इदानीमगूढचारिणं कुत्सयन्नाह—

ये यथा वान्तमश्नन्ति बाला नित्यमभूतये ।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपभोजनात् ॥ ३५ ॥

मूढो बाल इति प्रोक्तः श्वा च बाल इति स्मृयः' इति दर्शनाद् यथा बालाः श्वानो वा मूढा वा वान्तम् उद्गीर्णमश्नन्ति, एवं ये शिष्टा ब्रह्मविदः स्वमाहात्म्यं ख्यापयन्तोऽगूढचारिणः वर्तन्ते, ते वान्तमुद्गीर्णमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपभोजनात् । यदिदं वान्ताशनं तदिदमभूतयेऽनर्थायैवेत्यर्थः । तस्माद् गूढः सन्नशिष्टवदेव समाचरेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

इदानीं योगिनः प्रशंसन्नाह—

अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या वेदेषु ये द्विजाः ।
ते दुर्द्धर्षा दुष्प्रकम्प्या विद्यात्तान् ब्रह्मणस्तनुम् ॥ ३६ ॥

अनाढ्या अबहुमता असक्तात्मानो मानुषे वित्ते जायापुत्रवित्तादिषु,

भद्र पुरुषोंकी भाँति सर्वथा आचरण न करें; क्योंकि आत्मज्ञानी क्रान्तदर्शीके लिए साधारण व्यक्तिके जैसा व्यवहार करना ही समुचित माना गया है। जिससे कि उसकी ब्रह्मनिष्ठामें अन्तराय उपस्थित न हो ॥ ३४ ॥

अब गुप्तरूपसे आचरण न करनेवाले व्यक्तिकी निन्दा करते हुए कहते हैं—

जैसे कुत्ते अपने वमन किये हुएको पुनः खा लेते हैं, वैसे वे ज्ञानी लोग अपने वीर्यका उपभोग करनेके कारण वमन ही खा लेते हैं ॥ ३५ ॥

मूढ प्राणीको बालक कहा गया है और कुत्तेको भी बालक ही कहा जाता है। इस सिद्धान्तके अनुसार जैसे बाल-कुत्ता अथवा मूढ प्राणी अपने उदरसे अपरिपक्व अन्नादि पदार्थको पुनः खा लेते हैं। इसी प्रकार शिष्ट ब्रह्मवेत्ता पुरुष अपने महात्म्यका प्रदर्शन करते हुए गुप्तरूपसे आचरण नहीं करते हैं वे लोग अपने वीर्य-सामर्थ्यका उपभोग करनेके कारण वमन किये हुए अन्नादि पदार्थका ही भक्षण करते हैं। भाव यह है कि जो यह वमन किये हुए अपरिपक्व अन्नादि पदार्थका फिरसे भोजनके रूपमें ग्रहण करता है वह तो उनके लिए विनाशका ही सूचक है। इसलिए विद्वान् पुरुषको गोपनीयवृत्तिपूर्वक आचरण करना चाहिए ॥ ३५ ॥

आढ्या वेदेषु वेदप्रतिपाद्यहिंसासत्यास्तेयापरिग्रहब्रह्मचर्यसमाधिसाधनेषु ये द्विजास्ते दुर्द्धर्षा दुष्प्रकम्प्याः। विद्यात्तान् ब्रह्मणस्तनुम्। ब्रह्मस्वरूपभूतान् इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

किं च ब्रह्मविन्महिमैषः—

सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन।
न समानो ब्राह्मणस्य यस्मिन् प्रयतते स्वयम् ॥ ३७ ॥

सर्वानग्न्यादीन् स्विष्टकृतः सुष्ठु इष्टं कुर्वन्तीति। तथा च श्रुतिः—'स्विष्टं कुर्वन् स्विष्टकृत्' इति। देवान् प्रत्येकमुद्दिश्य त्यागार्थं विद्याद् य इह कश्चन सर्वदेवतायाज्यपि ब्राह्मणस्य न समानो ब्राह्मणेन ब्रह्मविदा न समान इत्यर्थः।

सम्प्रति योगी पुरुषकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

जो ब्राह्मण मानुषी सम्पदासे सम्पन्न नहीं हैं अपितु वेदसम्बन्धी साधनोंसे प्रतिभायुक्त हैं वे अजेय हैं और बड़े कष्टसे भी विचलित नहीं होनेवाले हैं। अतः उन्हें ब्रह्मका ही विग्रह जानो ॥ ३६ ॥

जो ब्राह्मण लोग जाया, पुत्र और वित्तादि मानुषी सम्पदामें अनाढ्य है अर्थात् बहुत नहीं माननेवाले-अनासक्त बुद्धिवाले होते हैं और वेदोंमें अर्थात् वेदप्रतिपाद्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य एवं समाधिरूप साधनोंसे युक्त हैं वे अजेय एवं दुष्कप्य होते हैं। तात्पर्य यह है कि उनको साक्षात् ब्रह्मका विग्रह अर्थात् ब्रह्मका स्वरूप ही समझना चाहिए ॥ ३६ ॥

और भी यह ब्रह्मवेत्ता पुरुषकी महिमा है कि—

जो कोई व्यक्ति इस लोकमें भली प्रकार इष्ट सिद्धि करनेवाले सभी देवताओंको जानता है और स्वयमेव प्रयत्न भी करता है तो भी वह देवता ब्रह्मवेत्ता पुरुषके तुल्य नहीं होता है ॥ ३७ ॥

जो कोई विद्वान् पुरुष अच्छी प्रकार समस्त अग्नि आदि देवताओंकी अभीष्ट सिद्धि करनेवाले होते हैं। ऐसा ही भगवती श्रुतिका कथन है कि-- सम्यग्रूपसे अभीष्ट सिद्धि सम्पादित करता हुआ देवताओंकी उपासना करनेवाला स्विष्टकृत् कहलाता है। प्रत्येक देवताओंको उद्देश्य कर त्यागार्थ अर्थात् हवि देनेके उद्देश्यसे जानेगा, इस लोकमें जो कोई भी व्यक्ति सभी देवताओंके लिए

नैतदाश्चर्यम्—यस्मिन् देवताविशेषे हविष उद्देशत्यागेन फलार्थं प्रयतते 'वयं यजमानः इदमग्नये इदमिन्द्राय' इति सोऽपि हविष्प्रतियोगी देवताविशेषो न समानो ब्रह्मविदा, किमु वक्तव्यं देवपशुर्यजमानो न समान इति। तथा च मोक्षधर्मे—

ब्राह्मणस्य न सादृश्ये वर्तते सोऽपि किं पुनः।
इज्यते येन मन्त्रेण यजमानो द्विजोत्तमः॥

इति। तथा चाह भगवान् मनुः—

ब्रह्मविद्भ्यः परं भूतं न किंचिदिह विद्यते। इति॥ ३७॥

यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः।
न मान्यमानो मन्येत नावमानेऽनुसंज्वरेत्॥ ३८॥

पुनरपि तस्यैव समाचारमाह—

यं ब्रह्मविदम् अप्रयतमानं तूष्णींभूतं सर्वोपसंहारं कृत्वा स्वे महिम्नि

भजन करता है वह भी इस ब्रह्मवेत्ता पुरुषके तुल्य नहीं समझा जाता है; क्योंकि यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष उससे भी बढ़ कर होता है।

इस विषयमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जिस देवताविशेषके प्रति हविका दान करनेसे यजमान फलप्राप्तिके निमित्त प्रयत्न करता है कि 'यह हवि द्रव्य अग्निदेवके लिए है और यह हवि द्रव्य इन्द्रदेवके लिए है।' इस प्रकार वह भी उस हविका प्रतियोगी देवताविशेष ब्रह्मवेत्ता पुरुषके समान नहीं होता है, इस विषयमें इससे अधिक क्या कहा जाय, जबकि उस देवताका पशु यजमान ही उसके तुल्य नहीं है।

ऐसा ही मोक्षधर्ममें भी कहा गया है कि—समतामें तो उस देवताकी भी कोई गिनती नहीं है। जिस मन्त्रसे यजन किया जाता है और जो ब्राह्मण यजनरूप क्रिया भी करता है उनके लिए कहना ही क्या है? तथा भगवान् द्वारा भी यही कहा गया है कि—'इस संसारमें ब्रह्मवेत्ता पुरुषके समान कोई भी पदार्थ देखनेमें नहीं आता है'॥ ३७॥

आगे भी इसी ब्रह्मवेत्ता पुरुषके आचरण पर विवेचन किया जायेगा—

परन्तु यत्नशील जिस ज्ञानीका लोग सम्मान करते हैं उन लोगोंसे मैं सम्मानित हूँ ऐसा नहीं मानेगा और अनादर करनेपर उसे कष्ट भी नहीं होगा॥ ३८॥

जो सांसारिक पदार्थोंके लिए यत्न न करनेवाले, सदा अपनेमें समाहित

स्व्यवस्थितं ब्रह्मचर्यादेव कृतसंन्यासिनं वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थं परमहंस-परिव्राजकाचार्यं गूढचारिणं केचिद्विद्वांसः स्थितप्रज्ञलक्षणज्ञा ब्रह्मविदिति मत्वा मानयन्तिपू जयन्ति चेत्, स तैः पूजितो विद्वान् न 'मान्यमानः अहम्' इति मन्येत। तथा, स्थितप्रज्ञलक्षणानामनभिज्ञाः 'जड इति' मत्वा अवमानं कुर्वन्ति इति चेत तस्मिन् अवमाने निमित्ते नानुसंज्वरेत् — नानुतप्येत् ॥ ३८ ॥

लोकस्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा ।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः ॥ ३९ ॥
अधर्मविदुषो मूढा लोकशास्त्रविवर्जिताः ।
न मान्यं मानयिष्यन्ति इति मन्येदमानितः॥ ४० ॥

कथं तर्हि मानितेनावमानितेन वा मन्तव्यम् ? इत्याह श्लोकद्वयेन—
यदिदं विद्वांसो ब्रह्मविदं मानयन्ति इति तत्तेषां निमेषोन्मेषवत्

होकर रहनेवाले समस्त इन्द्रिय-समूहके विषयोंसे उपरामभावको प्राप्त होकर अपनी स्वरूपगत महिमामें आरूढ हुए ब्रह्मचर्य आश्रमसे ही संन्यासमार्गका अनुगामी वेदान्तविषयक तत्त्वज्ञानमें दृढनिश्चयवाले, गुप्तरूपसे चर्चा करनेवाले परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष है, स्थितप्रज्ञाके लक्षण जानने-वाले कुछ विद्वान् यह ब्रह्मनिष्ठ है, ऐसा समझ करके यदि उसका सम्मान-पूजन करता है तो वह उन लोगोंके द्वारा सम्मानित हुआ हूँ ऐसा न मानें और यदि स्थितप्रज्ञाके लक्षण न जाननेवाले कुछ अनभिज्ञ पामरजनोंके द्वारा यह माना जाय कि 'यह मूढ व्यक्ति है।' ऐसा मान करके उस ज्ञानके प्रति तिरस्कार पूर्ण दृष्टिसे व्यवहार करता है तो भी ज्ञानी पुरुषको उन पामरजनोंके द्वारा किये हुए तिरस्कारसे दुःखी नहीं होना चाहिए अर्थात् उसे किसी भी स्थितिमें संताप नहीं करना चाहिए ॥ ३८ ॥

वह सम्मान करनेसे अथवा सम्मान न करनेसे कैसे मान लेगा कि लोक-व्यवहारका ऐसा ही स्वरूप होता है, इस विषयमें दो श्लोकों द्वारा वर्णन किया जाता है—

इस संसारमें व्यावहारिक सुज्ञ लोग भद्र पुरुषका सम्मान करते हैं इससे ज्ञानी यही माने कि नेत्रोंके उन्मेष एवं निमेषके समान लोककी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और तिरस्कार करनेपर यह समझे कि ये धर्मके अनभिज्ञ मूर्ख हैं तथा लौकिक एवं वैदिक परम्परासे प्राप्त व्यवहारज्ञानसे शून्य हैं इसीसे वे मूर्खलोग सम्मानितोंको सम्मान नहीं देंगे ॥ ३९-४० ॥

स्वभाववृत्तिः स्वभाविकी प्रवृत्तिरिति मन्येत। तथा, अवमानितो जनैरवज्ञातो विद्वानेवं मन्येत— अधर्मविदुषो मूढा विवेकहीना लोकशास्त्रविवर्जिता न मान्यं मानार्हं मानयिष्यन्ति, इत्येतदविदुषां स्वभाव इति मन्येत अमानितोऽपूजितो विद्वान्॥ ३९-४०॥

इदानीं मानमौनयोर्भिन्नविषयत्वमाह—

न वै मानश्च मौनं च सहितौ वसतः सदा।
अयं मानस्य विषयो ह्यसौ मौनस्य तद्विदुः॥ ४१॥

न वै मानश्च मौनं च सहितौ एकत्र वसतः सदा। अयं प्रत्यक्षादिगोचरो लोको— लोक्यत इति प्रपञ्चो मानस्य विषयः। असौ परलोको मौनस्य। कोऽसौ। तद् विदुः। तदिति ब्रह्मणो नाम। तथा चाह भगवान्—

'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्राह्मणस्त्रिविधिः स्मृतः' इति। तथा चानुगीतासु-

जो ये स्थितप्रज्ञाके लक्षणोंको जाननेवाले व्यावहारिक सज्जन हैं वे ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानियोंका सदा सम्मान करते हैं, वह उन लोगोंकी नेत्रोंके उन्मेष एवं निमेषकी भाँति स्वभावसिद्ध प्रवृत्ति है ऐसा ज्ञानीको मानना चाहिए। तथा पामर प्राणियोंके द्वारा तिरस्कार करनेपर उस तिरस्कृत हुए ब्रह्मवेत्ता पुरुषको ऐसा मानना होगा कि धर्मके तत्त्वको नहीं समझनेवाले मूढ-विवेकशून्य एवं लौकिक एवं वैदिक परम्परासे प्राप्त व्यवहारशून्य बहिर्मुखीलोग सम्माननीयोंका कभी भी सम्मान नहीं कर सकते हैं ऐसा ही ज्ञानहीन प्राणियोंकी प्रकृति देखी जाती है॥ ३९-४०॥

सम्प्रति मान और मौनकी पृथग्रूपताका विवेचन किया जा रहा है—

वस्तुतः मान और मौन ये दोनों धर्मोंका एकत्र समावेश नहीं देखा जाता है; क्योंकि मानका विषय लोकसे सम्बन्धित है और मौनका विषय परलोकसे सम्बन्धित रहता है जो कि ब्रह्मके नाममें प्रसिद्ध है॥ ४१॥

यह निश्चित है कि कभी भी मान और मौनमें धर्मद्वय एक स्थानविशेषमें एक साथ होकर नहीं रह सकते हैं; जबकि यह तो प्रत्यक्षतया देखनेमें आता है और जो प्रपञ्चका विषयभूत लोक है वह साक्षात् मानका विषय माना जाता है। वह परलोक कौन-सा है? जो 'तत्' शब्दसे प्रसिद्ध है और 'तत्' शब्द परमात्माका वाचक है। ऐसा ही गीताके सप्तदश अध्यायमें भगवान् द्वारा कहा गया है—

'ॐ, तत्, और सत् ऐसे तीन प्रकारका ब्रह्मका नाम कहा गया है।'

'ॐ तत्सद्विष्णवे चेति सायुज्यादिप्रदानि वै।' इति तच्छब्दवाच्यं ब्रह्म मौनस्य विषय इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति- मानात्संसारप्राप्तिः, मौनेन ब्रह्म· प्राप्तिरिति। उक्तं च हैरण्यगर्भे—

अन्नाङ्गनादिभोगेषु भावो मान इति स्मृतः।
ब्रह्मानन्दसुखप्राप्तिहेतुर्मौनमिति स्मृतम् ॥ इति ॥ ४१ ॥

इदानीं मानार्थसंवासेऽपवर्गाभावं दर्शयति—

श्रीर्हि मानार्थसंवासात् सा चापि परिपन्थिनी।
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय ॥ ४२ ॥

हे क्षत्रिय ! मानार्थसंवासान्मानविषयसंवासान्मानगोचरे प्रपञ्चे वर्तमानस्य स्वर्गपश्वन्नादिसाधनभूतं कर्मानुतिष्ठतो विषयविषान्धस्य श्रीर्हि भवति। सा चापि श्रोः परिपन्थिनी श्रेयोमार्गविरोधिनी। तथा च मोक्षधर्मे—

निबन्धिनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतौ रतिः।
छित्त्वैनां सुकृतो यान्ति नेनं छिन्दन्ति दुष्कृतः। इति ॥

तथा अनुगीतामें भी उल्लेख किया हुआ है कि 'ॐ तत्सद्विष्णवे' निःसन्देह ये पद सायुज्यपदवी देनेवाले हैं। भाव यह है कि 'तत्' शब्दका वाच्य मौन ही उसका विषय है। और यह कहा जाता है कि सम्मानसे तो जन्म-मरणरूप संसारधर्मकी प्राप्ति होती है और मौनसे ब्रह्मभावकी स्थिति सम्पन्न हो जाती है। ऐसा ही हिरण्यगर्भ संहितामें उल्लेख है कि–अन्न, स्त्री आदि भोग्य-वस्तुओंमें मानसिक वृत्तियोंका सदा बने रहना तो सम्मान है तथा परमब्रह्म परमात्माकी आनन्दस्वरूप प्राप्तिमें हेतुरूप मौन माना जाता है ॥ ४१ ॥

सम्प्रति सम्मानके निकट रहनेवालेके लिए मोक्षका अभाव दिखलाया जा रहा है—

हे क्षत्रिय ! मानके निमित्त संवास करनेसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है किन्तु वह ज्ञानमार्गमें अत्यन्त बाधक है जिससे कि विद्याहीन लोगोंके लिए ब्रह्म-सम्बन्धी लक्ष्मी अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

हे राजर्षि ! केवल सम्मानके लिए संवास करनेसे अर्थात् मानविषयक विषयोंमें संवास करनेसे जो अज्ञजन सम्मान-सम्बन्धी प्रपञ्चजालमें विद्यमान रहता है और स्वर्ग, पशु एवं अन्नादिके साधनभूत कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले विषयवासनारूप विषसे अन्धे हुए पामर जीवात्माको भोगार्थ लक्ष्मीकी ही प्राप्ति

य एवं श्रियाभिभूतो मूढः सन् विषयेषु प्रवर्तते तेन प्रज्ञाहीनेन विद्याहीनेन ब्राह्मी ब्रह्मानन्द लक्षणा श्रीः सुदुर्लभा । तथा च हैरण्यगर्भे—

या नित्या चिद्घनानन्दा गुणरूपविवर्जिता ।
आनन्दाख्या परा शुद्धा ब्राह्मी श्रीरिति कथ्यते ॥ इति ॥

सा च सुदुर्लभा श्रवणायापि न शक्या । तथा च श्रुतिः—'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' इति ॥ ४२ ॥

इदानीं ब्रह्मलक्ष्मीप्रवेशद्वाराणि दर्शयति—

द्वाराणि सम्यक् प्रवदन्ति सन्तो बहुप्रकाराणि दुराचराणि ।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्याः षण्मानमोहप्रतिबन्धकानि ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि धृतराष्ट्रसनत्कुमारसंवादे
श्रीसनत्सुजातीये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वाराणि ब्रह्मलक्ष्मीप्रवेशद्वाराणि सन्तः सम्यक् प्रवदन्ति बहुप्रकाराणि दुराचराणि दुःखाचरणानि । कानि तानि ? सत्यार्जवे— सत्यं यथार्थभाषणं

होती है । किन्तु ऐसे व्यक्तिके लिए लक्ष्मी मानुषी सम्पदा परमार्थपथमें साक्षात् विरोध उत्पन्न करनेवाली हो जाती है अर्थात् उस पामर जीवको श्रेयमार्गसे दूर कर देती है और वैषयिक-वस्तुओंको फेंक देती है । ऐसा ही मोक्ष-धर्ममें कहा गया है कि लोगोंका जो पुत्र, मित्र, कलत्रादिके साथ सहवास करनेसे अनुराग बढ़ता हुआ देखनेमें आता है । वह तो मोहजालमें बाँधनेवाली रज्जु ही है । पुण्यात्मा लोग उसका विच्छेदन कर निकल जाते हैं । परन्तु दुष्कृतात्मा उसका विच्छेदन करनेमें समर्थ हैं ।

इस प्रकार जो मूढप्राणी लक्ष्मी-मानुषी सम्पदासे अभिभूत होकर विषयों में आसक्त हो जाते हैं उसके लिए प्रज्ञाहीन-ब्रह्मविद्याहीन व्यक्तिको ब्राह्मी ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली ब्रह्मानन्दरूपा श्री लक्ष्मी अत्यन्त दुर्लभ है । और इस विषयमें हिरण्यगर्भ संहितामें कहा गया है कि जो नित्य, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे परे है । वह आनन्द संज्ञक परमशुद्ध ब्राह्मी लक्ष्मी कहलाती है । और वह अत्यन्त दुर्लभ भी है एवं इसका तो श्रवण करनेके लिए प्राप्त होना भी कठिन-सा ही है । ऐसा ही भगवती श्रुतिका कथन है कि 'बहुतसे पामरजनोंको ब्रह्मतत्त्व श्रवण करनेके लिए भी नहीं मिलता है ॥ ४२ ॥

अब ब्रह्मसम्बन्धी लक्ष्मीमें प्रवेश करनेके द्वार दिखलाया जाता है—

भूतहितं च । आर्जवम्, अकौटिल्यम् । ह्रीः, अकार्यकरणे लज्जा । दमशौचविद्याः दमः- अन्तःकरणोपरतिः । बहिःकरणोपरतिरिति केचित् । शौचं कल्मष-प्रक्षालनम् । विद्या ब्रह्मविद्या । षडेतानि मानमोहप्रतिबन्धकानि ॥ ४३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ सनत्सुजातीयभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ज्ञानी पुरुष अतीव कठिनतासे प्राप्त होनेवाले साध्यका अनेक प्रकारके द्वारोंसे वर्णन करते हैं । जैसे सत्य, आर्जव, लज्जा, इन्द्रियनिग्रह, पवित्रता और विद्या ये षड्गुण मान मोहादिके बाधक होते हैं ॥ ४३ ॥

साधुजनोंने ब्रह्म-सम्बन्धी लक्ष्मीमें प्रवेश करनेके हेतुरूप अनेक प्रकार के बड़े दुःखसे आचरण किये जानेवाले द्वारोंका विवेचन किया हुआ है । वे द्वार कौन-से हैं ? वे सत्य और आर्जव-सरलभाव हैं अर्थात् सत्य-भूतप्राणियोंके लिए कल्याणकारी और यथार्थ भाषण एवं आर्जवम् अर्थात् अप्रतिकूल । ह्री–न करने योग्य कार्य करनेमें लज्जाका अनुभव करना और दूषित कर्मसे निवृत्त होना । 'दम' अन्तःकरणगत धर्मोंसे निवृत्ति अर्थात् विषयोंसे उपरामभाव । कुछ लोग बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियोंके धर्मों से उपरति होना भी मानते हैं । 'शौच'-- मलिनभावका प्रक्षालन और 'विद्या'—ब्रह्मविद्या । इस प्रकार ये छः गुण मान और मोहके अवरोधक होते हैं ॥ ४३ ॥

इति आचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरविरचिता हिन्दीव्याख्या श्रुतिरञ्जनी समाप्ता ।

द्वितीयोऽध्यायः

अयं मानस्येत्यादिना मौनमाहात्म्यं प्रदर्शितं श्रुत्वा प्राह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच

कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम्।
मौनेन विद्वानुपयाति मौनं कथं मुने मौनमिहाचरन्ति ॥ १ ॥

कस्य कीदृशस्य एष पूर्वोक्तो वागाद्युपरतिलक्षणो मौनो भवति? कतरन्नु एतयोरसम्भाषणात्मस्वरूपयोर्मौनम्? प्रब्रूहि हे विद्वन्! इह मौनभावम्। मौनस्य स्वभावम्। मौनेन तूष्णींभावेनविद्वानुपयाति मौनं ब्रह्म, आहोस्विदन्येन? कथं मुने! मौनमिहाचरन्ति? ॥ १ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

सनत्सुजात उवाच

यतो न वेदा मनसा सहैनमनुप्रविशन्ति ततः स मौनम्।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥ २ ॥

'अयं मानस्य' इत्यादि सूत्रमें प्रदर्शित मौनविषयक माहात्म्यका श्रवण करके धृतराष्ट्रने कहा है कि—

धृतराष्ट्र बोले—हे विद्वन्! यह मौन किसका है? तथा किस प्रकारका है? अत एव आप मौनके विषयमें मेरे प्रति कहिये अथवा विद्वज्जन मौनसे मोनस्वरूप परमात्माको कैसे पा सकते हैं। हे मुने! इस संसारमें लोग मौनका पालन कैसे करते हैं? ॥ १ ॥

पूर्वोक्त अध्यायमें प्रतिपादित किस प्रकारके पुरुष विशेषमें यह वागादिकी निवृत्तिरूप मौन रहता है? संभाषणहीन और आत्मरूप इन दोनोंमें यह मौन कौन-सा है? हे विद्वन्! आप इस संसारमें मौनका स्वरूप अर्थात् मौनके स्वभावका वर्णन मेरे प्रति करें। विद्वान् पुरुष मौनको धारण करनेसे मौनस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है अथवा दूसरे किसी मौनसे परमात्माको प्राप्त करता है? इस संसारमें विद्वज्जन मौनका आचरण कैसे करते हैं ॥ १ ॥

यतो यस्माद्वेदा मनसा सह एनं परमात्मानं नानुप्रविशन्ति। तथा च श्रुतिः—'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इति। ततस्तस्मादेव कारणात् स एव वाचामगोचरः परमात्मा मौनम्।

यद्येवं किंलक्षणस्तर्हि परमात्मा? तत्राह—यत्रोत्थितो वेदशब्दः—यस्मिन्नर्थे निमित्तभूते समुत्थितो वेदशब्दः, शास्त्रादिकारणं ब्रह्मेत्यर्थः। अथवा यस्मिन् संवेदनाख्ये उत्थितो वाचकत्वेन प्रयुक्तो वेदशब्द इत्यर्थः। तथा वेदशब्दप्रतिपाद्यः संविद्रूपोऽयं परमात्मा।

यदि वाचामगोचरः परमात्मा, कथमेतदवगम्यते संविद्रूपः परमात्मेति? तत्राह— स परमात्मा तन्मयत्वेन ज्योतिर्मयत्वेनैवास्माकं विभाति राजन्। एवमेवास्मदनुभवो नात्राविश्वासः कर्तव्य इत्यर्थः। अथवा श्रुतिस्मृतीतिहास-पुराणादिषु ज्योतिर्मयत्वेन प्रतीयते। तथा च श्रुतिः—'तद्देवा ज्योतिषाम्',

इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रके द्वारा जिज्ञासा करनेपर भगवान् श्रीसनत्सुजातने कहा कि—

हे राजन्! जबकि समस्त वेदराशि मनके सहित परमात्माको जाननेमें समर्थ नहीं है इसी कारण मौन ही ब्रह्म है। तथा यह शब्दात्मक वेद जिसमें प्रादुर्भूत हुआ है और वह तद्रूपतासे उसमें आभासित भी होता है॥ २॥

जिससे कि सम्पूर्ण वेद मन सहित इस परमब्रह्म परमात्मामें प्रविष्ट नहीं हो सकते हैं। इस विषयमें भगवती श्रुतिका उल्लेख मिलता है कि—

'जिससे कि मन सहितवाणी अप्राप्त होकर लौट आती है।' इसी कारण वाणीका अविषयभूत वह परमब्रह्म परमात्मा ही मौन है।

यदि इस प्रकार है तो उस परमात्माका कौन-सा स्वरूप समझा जाय? इसका समाधान यह है कि जहाँ शब्दात्मक वेदका समुद्भव हुआ है अर्थात् अपने कारणभूत जिस अर्थमें शब्दात्मक वेदका वाचकरूपसे प्रयोग हुआ है। तात्पर्य यह है कि परमब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण वेदशास्त्रोंका मूल स्रोत है अथवा जिस संवेदनसंज्ञक अर्थमें वाचकत्वरूपसे वेद शब्दका प्रयोग हुआ है तथा संविद्रूप परमब्रह्म परमात्मा ही वेद शब्दका प्रतिपाद्य विषय है।

यदि परमात्मा वागादिका विषय नहीं है तो यह कैसे जाना जाता है जिससे कि वह संवित्प्रकाश परमात्मा ही है। इसके समाधानमें कहते हैं कि हे राजन्! हमें वह परमब्रह्म परमात्मा तन्मय अर्थात् ज्योतिर्मय स्वरूपसे आभासित होता है। आशय यह है कि इस विषयमें हमारा अनुभव अविश्वास

'अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः' इति। तथा च भगवान्— ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥ इति ॥ २ ॥

इदानीं वेदस्वभावपरिज्ञानाय प्राह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच

ऋचो यजूंष्यधीते यः सामवेदं च यो द्विजः।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते न स लिप्यते ॥ ३ ॥

यः पापानि कुर्वन् ऋग्वेदादीनधीते स तेन वेदाध्ययनेन पूयते न वा? एतद्वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान् –

सनत्सुजात उवाच

नैनं सामान्यृचो वापि यजूंषि च विचक्षण।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥

के योग्य नहीं है अथवा श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोंमें उस परमात्माका ज्योतिर्मयस्वरूपसे ही बोध होता है। ऐसा ही भगवती श्रुतिका कथन है कि— 'देवता लोग उस परमात्माको ज्योतियोंका ज्योति कहते हैं।' जबकि वह परमात्मा शरीरके भीतर शुभ्र ज्योतिर्मय है जिनके दोष विनष्ट हो चुके हैं ऐसे यतिवृन्द जिसको देखते हैं।' ऐसा गीताके त्रयोदश अध्यायमें भगवान् द्वारा कहा गया है कि—'वह ज्योतियोंका भी ज्योति और अज्ञानतमसे भी परे कहा जाता है'॥ २ ॥

सम्प्रति राजा धृतराष्ट्रने वेदके स्वरूपको जाननेकी जिज्ञासा की—

जो ब्राह्मण पापाचार करता हुआ भी ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका अध्ययन करता है, वह पापकर्मसे लिप्त रहता है अथवा लिप्त नहीं रहता है ॥ ३ ॥

जो व्यक्ति पापकर्ममें लिप्त रहता हुआ भी ऋगादि वेदोंका स्वाध्याय करता है वह उस वेदाध्ययनसे पवित्र होता है अथवा नहीं होता है? आप इस विषयमें मेरे प्रति कहिये, यही आशय है ॥ ३ ॥

इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रके द्वारा जिज्ञासा करनेपर भगवान् श्रीसनत्सुजातने कहा कि--

श्रीसनत्सुजात बोले--हे विद्वन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद अथवा सामवेद उनमेंसे

यः पापानि कुर्वन् ऋग्वेदादीनधीते नैनं प्रतिषिद्धचारिणम् ऋग्वेदादयो वेदाः पापात्कर्मणस्त्रायन्ते न रक्षन्ति। न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम्, एवमेवैतत्, नात्राविश्वासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ ४ ॥

किं कुर्वन्तीति चेत्, तत्राह—

न च्छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम्।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहन्त्यन्तकाले ॥ ५ ॥

न च्छन्दांस्येनं वृजिनादधर्मान्नास्तिकं पापकारिणमधीतवेदमधीतवेदार्थं मायाविनं धर्मध्वजिनं मायया वर्तमानं मिथ्याचारिणं तारयन्ति न रक्षन्ति। किं करिष्यन्तीति चेत्—यथा शकुन्ताः पक्षिणो जातपक्षाः सन्तो नीडं स्वश्रयं

कोई भी इस पापाचरण करनेवाले व्यक्तिकी रक्षा नहीं कर सकते हैं, मैं आपसे मिथ्या भाषण नहीं कर रहा हूँ।

जो व्यक्ति पापकर्मोंमें लिप्त रहता हुआ ऋग्वेदादिका अध्ययन करता है इस प्रकारका निषिद्ध आचरण करनेवाले व्यक्तिकी ऋगादि वेद पापकर्मसे रक्षा नहीं करते हैं। आपसे मैं असत्य भाषण नहीं करता हूँ। अतः यही सत्य है। भाव यह है कि उक्त विषयमें आपको अविश्वास नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

यदि यही बात है तो वे लोग क्या करते हैं? इसपर कहते हैं—

कपटपूर्वक आचरणवाले धूर्त व्यक्तिको वेद पापसे नहीं तार सकते हैं। जैसे पक्षियोंके शावक पंख आ जानेपर घोंसलेको छोड़ देते हैं वैसे ही मृत्युकाल आ जानेपर इस दुष्टात्माको वेद भी छोड़ देते हैं ॥ ५ ॥

वेदशास्त्र मिथ्याचारी पापी प्राणीकी अधर्मसे रक्षा नहीं करते हैं अर्थात् जिस भी व्यक्तिने साङ्गोपाङ्ग वेदोंका अध्ययन किया है और वेदविहित आचरणसे रहित है ऐसे मायावी, पाखण्डी, नास्तिक और पापकर्मोंमें सदा लिप्त रहनेवाले मिथ्याचारी व्यक्ति जो छल-छद्मपूर्वक व्यवहार करता है उस पापीको वेद भी अधर्मरूप पापकर्मसे तारते नहीं हैं अर्थात् पापकर्मसे रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं। यदि ऐसी बात है तो फिर वेदकी कौन-सी उपयोगिता है? उत्तर यह है कि पंखोमें उड़नेकी शक्ति प्राप्त हो जानेपर पक्षियोंके शावक अपने आश्रयभूत घोंसलेका परित्याग कर देते हैं, वैसे ही वेदोंके अध्ययन करने-वालेको भी अन्तकाल-शरीर त्यागनेकी स्थिति उपस्थित हो जानेपर मृत्युके

परित्यजन्ति, एवं छन्दांस्यन्तकाले मरणकाले एनं स्वाश्रयभूतं प्रजहन्ति परित्यजन्ति' न पुरुषार्थाय भवन्तित्यर्थः ॥ ५ ॥

एवमुक्ते प्राह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच

न चेद्वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ता विचक्षण ।
अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ६ ॥

'कर्मोदये' (अ० १ श्लो० १) इत्यादिना नित्यानां काम्यानां च पितृलोकादिप्राप्तिहेतुत्वेन संसारानर्थहेतुत्वस्य दर्शितत्वात् प्रतिषिद्धस्य कर्मणो नरकहेतुत्वेनार्थहेतुत्वस्य च दर्शितत्वात्, न वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ताश्चेत्, अथ कस्माद्धेतोरयं प्रलापः सनातनश्चिरन्तन इत्यर्थः । संसारानर्थहेतुत्वेन वेदाध्ययनतदर्थविचारतदर्थानुष्ठानानि न कर्तव्यानीत्यर्थः ॥ ६ ॥

भवेदयं प्रलापो यद्येष एव वेदार्थः स्यात्, अन्य एव स्वर्गादेः परमपुरुषार्थो

समय वेद अपने आश्रयभूत मिथ्याचारी मनुष्यको भी छोड़ देते हैं । भावार्थ यह है कि अधर्मके परिणामसे पापीलोग परमपुरुषार्थसे वाञ्छित हो जाते हैं ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीसनत्सुजातके द्वारा विवेचन करनेपर राजा धृतराष्ट्रने कहा कि—

धृतराष्ट्र बोले—हे विद्वान् ! यदि वेदवेत्ता पुरुषकी वेदशास्त्र रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है, तो फिर ब्राह्मणोंका यह सनातन प्रलाप क्यों है ? ॥६॥

प्रथम अध्यायके नवम श्लोकमें प्रतिपादित 'कर्मोदये' अर्थात् नित्य और काम्यकर्मोंको पितृ-लोकादिकी प्राप्तिमें हेतुरूप होनेसे संसारकी अनर्थतामें कारण दिखलाया है और निषिद्ध कर्मोंको भी नरक प्राप्तिमें हेतुरूप होनेसे अनर्थका मूल कारण माना गया है । इस प्रकार यदि वेदज्ञ पुरुषोंकी वेद-शास्त्र रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं तो फिर किस लिये यह सनातन-चिन्तन प्रलाप है । आशय यह है कि संसाररूप अनर्थकी प्राप्तिमें हेतुत्व होनेसे वेदशास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन, वेद विषयक विचार-विमर्श और वेद प्रतिपादित कर्मानुष्ठान भी नहीं करना चाहिए ॥ ६ ॥

यदि वेदका अर्थ यही लिया जाता है तो यह प्रलाप अवश्यमेव स्वीकार किया जायेगा; जबकि स्वर्गादि लोकसे भिन्नरूपमें ही वेदका अर्थ मोक्षनामक

मोक्षाख्यो वेदार्थः इतरस्य च कर्मराशेः, उपासनायाश्च तत्प्राप्तिसाधनज्ञान-साधनान्तःकरणशुद्धिसाधनत्वेन पारम्पर्येण पुरुषार्थत्वादेव वेदप्रतिपाद्यत्वम्। तथा हि– तमेव परमात्मनं परमपुरुषार्थं दर्शयति वेदः—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जनाः॥ इति॥

स्वर्गादिलोकानामपुरुषार्थत्वमनानन्दात्मकत्वमविद्यावद्विषयत्वेन दर्शयित्वा,

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

इत्यात्मविदः कृतकृत्यतां दर्शयित्वा,

'इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीन्महती विनष्टिः। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति, अथेतरे दुःखमेवापियन्ति'॥ इत्यात्मविदोऽमृतत्वप्राप्तिम् अनात्मविद आत्मविनाशमनर्थप्राप्तिं च दर्शयित्वा,

यदैतमनुपश्यति आत्मानं देवमञ्जसा।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥

परम पुरुषार्थ सिद्ध होता है, दूसरे तो कर्म-समूह और उपासना-सम्बन्धी हैं। उनका वेद प्रतिपादित अर्थ तो मोक्षधर्मकी प्राप्तिमें हेतुरूप ज्ञानके साधन अन्तःकरणकी विशुद्धिमें साधनरूप होनेसे पारस्परिक पुरुषार्थरूप माना जाता है।

वस्तुतः वैसा ही उस परमब्रह्म परमात्माको वेदशास्त्र प्रदर्शित करता है– 'वे घोर अज्ञानतमसे आच्छादित आनन्दरहित लोक हैं। जो कि ज्ञानहीन और पामरलोग मरणोत्तर उन्हीं लोकको प्राप्त होते हैं।'

स्वर्गादि लोकोंका अविद्यावत् विषय होनेसे पुरुषार्थत्वहीन और आनन्दशून्यत्व प्रदर्शित किया गया है 'यदि पुरुष आत्मतत्त्वको ऐसा जान लें कि यही मैं हूँ तो वह किसकी इच्छा करता हुआ कामनाके निमित्त शरीरको संतप्त करेगा? इससे आत्मवेत्ता पुरुषकी कृतार्थताको दिखाया है। इस जन्ममें जीते हुए ही हमें उस परमात्माका साक्षात्कार कर लेना चाहिए, यदि हमने उसे नहीं जाना तो बड़ी भारी क्षति होगी। जो विद्वज्जन उसको भलीभाँति जीवन-कालमें जान लेता है तो वह अमर हो जाता है और इस परमब्रह्म तत्त्वसे दूर रहनेवालेको तो दुःख ही भोगना है। इस प्रकार श्रुति-वाक्योंसे

इत्यादिभिर्वाक्यैस्तत्स्वरूपतदर्थतद्दर्शनतत्फलानि भूयो भूयो दर्शयित्वा, कथमेनं मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणं विषयाभिभूतं पापकारिणं मोक्षयित्वा परमपदे परमात्मनि पूर्णानन्दे स्वाराज्ये मोक्षाख्ये स्थापयिष्यामि, इति मत्वा तत्प्राप्तिसाधनज्ञानसाधनविविदिषासाधनत्वेन यज्ञादीन् विनियुङ्क्ते — 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाऽशकेन ।। इति ।।

तस्मात् तदर्थत्वेनैव यज्ञादीनां पुरुषार्थत्वम् । इतरत्र तु पुनः स्वर्गादौ श्येनयागादीनामिवापुरुषार्थत्वम्, संसारानर्थहेतुत्वात् । तथा च श्रुतिः—

'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्यू ते पुनरेवापियन्ति ।।' इति ।।

यस्मादेवं मोक्षतत्साधनप्रतिपादकत्वेन संसारानर्थनिवृत्तिहेतुत्वं वेदानाम्

आत्मवेत्ता पुरुषको आत्मविनाशात्मक अनर्थकी प्राप्ति प्रदर्शित करके, जब प्राणी भूत एवं भविष्यत्के प्रशासिता इस आत्मदेवको अच्छी प्रकार अपरोक्ष रूपसे जान लेता है तब उससे वह घृणा नहीं करता है ।' इत्यादि वाक्योंसे उसके स्वरूप, वस्तुके साक्षात्कार और उस साक्षात्कारके फलोंको अनेक बार दिखला करके मकरादिकी भाँति राग द्वेषादिसे युक्त होकर इतस्ततः वैषयिक प्रवृत्तियोंमें खींचा जाते हुए पापीको मैं कैसे अज्ञानसे मुक्त कराकर परमपद परमात्मरूप पूर्णानन्दमय मोक्षनामक स्थानपर प्रतिष्ठापित करूँगा । ऐसा मान करके उसकी प्राप्तिमें साधन ज्ञानकी साधनरूपा जिज्ञासाके साधनरूप होनेसे यज्ञादिकमें विनियोग है—जिससे कि ब्राह्मणलोग इस आत्मतत्त्वको वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप और उपासनाके द्वारा जिज्ञासा करते हैं ।' अत एव उसकी अर्थवत्ता होनेसे ही यज्ञादिका भी पुरुषार्थत्व सिद्ध होता है । किन्तु यज्ञादि दूसरे फलोंमें उपयोगी हैं और संसाररूप अनर्थमें कारणरूप होनेसे श्येनयागादिके समान अपुरुषार्थत्व भी हैं । ऐसा ही भगवती श्रुतिका कथन है जिनमें अवरकोटिके कर्म हैं वे षोडश ऋत्विक, सहित यजमान और उसकी धर्मपत्नीसे मिलकर अष्टादश यज्ञके साधन अदृढ-अनित्य कहे गये हैं । जो पामरजन श्रेयरूपमें मान लेते हैं वे जन्म-मरणधर्मको प्राप्त होते रहते हैं ।

जबकि इस प्रकार वेदोंको मोक्ष और उसकी प्राप्तिके साधनरूपसे माना

तस्माद्वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ता एवेत्येतत्सर्वमभिप्रेत्याह श्लोकत्रयेण— तत्र प्रथमेन नित्यापरोक्षं परमपुरुषार्थं परमात्मानं दर्शयति—

सनत्सुजात उवाच

तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति महानुभाव।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदास्तद्विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

तस्यैव परमात्मनो मायापरिकल्पितैर्नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति हे महानुभाव। कथमेतदवगम्यते तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भातीति? 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, इति मायानिर्मितं बहुरूपं निर्दिश्य तस्यैव सम्यग् रूपम् 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूत्यनुशासनम्' इति प्रवदन्ति वेदाः।

जाता है इसलिए उनकी संसाररूप अनर्थकी निवृत्तिमें हेतुता भी देखी जाती है। इसीसे वेदज्ञजनोंकी वेद रक्षा करनेमें सामर्थ्य रखते हैं। यही सब अभिप्रायको अभिमुख रख करके तीन श्लोकोंसे वर्णन करते हैं। उनमें प्रथम श्लोकसे नित्य अपरोक्ष परमपुरुषार्थरूप परमात्माके विषयमें प्रतिपादन किया जा रहा है—

श्रीसनत्सुजात बोले—हे महानुभाव! यह संसार उस परमात्माके आश्रित होकर नामरूपादिके रूपमें भासित होता है तथा उसका निर्देश करके वेद परमात्माका विलक्षणरूपसे वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

हे महानुभाव! यह सारा नाम-रूपात्मक विश्व उस परमब्रह्म परमात्माकी माया-शक्तिसे प्रकल्पित होकर प्रकाशित होता है। यह कैसे जाना जाता है कि उस परमात्माके ही नामादि विशेषरूपोंके माध्यमसे यह संसार आभासित होता है? 'इन्द्र माया द्वारा अनेक रूपोंको धारण कर लेता है।' इस श्रुति-वाक्य द्वारा मायासे प्रकल्पित अनेक रूपोंको धारण करना प्रदर्शित करके 'वह यह परमब्रह्म परमात्मा पूर्वापर-कार्यकारणसे शून्य और बाह्य आभ्यन्तरसे रहित है। सभीके अनुभवरूप यह प्रत्यगात्मा ब्रह्मस्वरूप ही है, इस प्रकार वेदकी आज्ञा है। इस श्रुति-वाक्यसे वेद उसीका पारमार्थिक स्वरूप दिखाते हैं। तथा परमब्रह्म परमात्माके मूर्त्त और अमूर्त्त ये दो स्वरूप हैं। इत्यादि श्रुति-वाक्यसे उसीका मूर्त्तामूर्त्तात्मक जगत्के स्वरूपका निर्देश करता है और उसीके पारमार्थिक स्वरूपका 'नेति-नेति' इस अंशसे वर्णन भी करते

तथा च 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च' इत्यादिना तस्यैव मूर्तामूर्तात्मकमात्मवज्जगत्स्वरूपं निर्दिश्य तस्य सम्यग् रूपम् 'नेति नेति' इत्यादिना प्रवदन्ति वेदाः। तथा 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इति वियदादिधरित्र्यन्तं तस्यैव कार्यं निर्दिश्य कोशोपन्यासमुखेन तस्यैव सम्यग्रूपम् 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह, इत्यादिना प्रवदन्ति वेदाः। तथा—'अधीहि भगव इति होपससाद' इत्यादिना नामादिप्राणान्तं तस्यैव मायानिमित्तं जगन्निर्दिश्य 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इत्यादिना तस्यैव सम्यग्रूपं भूमानं तमसः पारं स्वे महिम्नि व्यवस्थितं प्रवदन्ति वेदाः।

न केवल वेदाः प्रवदन्ति, अपितु मुनयोऽपि तद् ब्रह्म विश्ववैरूप्यं विश्वरूपविपरीतस्वरूपम् उदाहरन्ति। तथा चाह भगवान् पराशरः—

प्रत्यस्तमितभेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम्।
मनसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥
तच्च विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम्।
विश्वस्वरूपवैरूप्यलक्षणं परमात्मनः॥ इति ॥७॥

हैं। तथा आत्मासे आकाशतत्त्वकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार आकाशसे लेकर पृथिवीतत्त्वपर्यन्त अन्नादिरूप पञ्चकोशोंका उपस्थापन करते हुए उसीके कार्यका निर्देश करके उसीका पारमार्थिक स्वरूप अभिहित है; 'जबकि मन सहित वाणी उसे न प्राप्त होकर लौट आती है।' इत्यादि वाक्यसे वेद परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं। तथा 'हे भगवन्! परमात्माके स्वरूपका वर्णन मुझ जिज्ञासुके प्रति कीजिये। इस प्रकार अभ्यर्थनापूर्वक आचार्यके समीप पहुँचा। इत्यादि अंशसे नामादिसे प्रारम्भ करके प्राणपर्यन्त उसी परमात्माकी मायाशक्ति द्वारा निर्मित जगत्की कारणताका विवेचन करके 'जिसमें दूसरा कोई देखता नहीं है, न सुनता भी है और न कुछ जानता भी है वह भूमा है।' इत्यादि अंशसे वेद वर्णन करते हैं कि—उसी भूमा-परमात्माका पारमार्थिक स्वरूप अज्ञानतमसे अतीत अपनी महान् महिमामें प्रतिष्ठित है।

इस विषयमें केवल वेदोंका ही प्रतिपादन नहीं है अपितु मुनिजनोंने भी उस परमात्माकी नामरूपात्मक विश्वसे विलक्षण स्वभाववाला माना है। ऐसा ही भगवान् पराशरका कथन है—जिसमें ये सारे भेदवर्ग अन्तर्लीन हो गये हैं, जो सत्तामात्र, मनका अविषय तथा अपने संवेदनका विषय है, अत एव वह सविद्रूपज्ञान ही ब्रह्म शब्दसे अभिहित है और वह अरूपनामक अनुत्तमस्वरूप

इदानीमीश्वरार्थमनुष्ठीयमानानां तत्प्राप्तिसाधनज्ञानापेक्षितशुद्धिद्वारेण पारम्पर्येण पुरुषार्थत्वम्, अन्येषां संसारानर्थहेतुत्वेनापुरुषार्थत्वं च दर्शयति श्लोकद्वयेन—

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात् स जायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ ८ ॥

यद्विश्वरूपविपरीतरूपं ब्रह्म तदर्थमुक्तं वेदेन। किम्? तपः—कृच्छ्रचान्द्रायणादि, इज्या—ज्योतिष्टोमादि। किं ततो भवतीति चेत्—ताभ्याम् इज्यातपोभ्याम् असौ विद्वान् पूर्वोक्तविनियोगज्ञ ईश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठन् पुण्यमुपैति प्राप्नोति कर्मजन्यापूर्वसंयुक्तो भवति। तेन पुण्येन पापं विनिहत्य क्षपयित्वा पश्चादुत्तरकालं स क्षपिताशेषकल्मषो जायते ज्ञानविदीपितात्मा ज्ञानप्रकाशितचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मस्वरूपो भवति ॥

भगवान् श्रीविष्णुका सर्वोत्कृष्टरूप है इसीसे परमात्माका वह स्वरूप विश्वसे विलक्षण स्वभाववाला समझा जाता है ॥ ७ ॥

सम्प्रति जो परमेश्वरकी प्रीतिके निमित्त किये जानेवाले अनुष्ठीयमान कर्म हैं वे समस्त कर्म उसकी प्राप्तिके साधनभूत तत्त्वज्ञानमें अपेक्षित समझे जाते हैं इसलिए वे अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा परम्परा पुरुषार्थत्वकी सिद्धिमें उपयोगी भी हैं और दूसरे कर्म संसारकी अनर्थतामें हेतु हैं इसीसे उनका अपुरुषार्थत्व सिद्ध होता है यह सब दो श्लोकोंके द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है—

उसके लिए तप और यज्ञ कहा गया है। यह विद्वान् पुरुष उन दोनोंसे पुण्यधर्मको प्राप्त करता है और वह पुण्यसे पापका प्रक्षालन कर ज्ञानसे देदीप्यमान हो जाता है ॥ ८ ॥

जो परमब्रह्म परमात्माका स्वरूप विश्वरूपसे विलक्षण स्वभाववाला है। वेदने उसकी प्राप्तिके लिए कौन-सा मार्ग प्रस्तुत किया है? कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तप और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ हैं। ठीक है किन्तु उससे क्या सिद्ध होता है तो सुनो—उन यज्ञ और तपसे पूर्वोक्त कर्मका विनियोग जाननेवाला यह विद्वान् पुरुष परमेश्वरके निमित्त कर्मानुष्ठान करता हुआ पुण्यधर्मको प्राप्त करता है—कर्मजनित अपूर्वसे संयुक्त हो जाता है और उस पुण्यधर्मसे पापका विनाशके अनन्तर समस्त क्रियमाण एवं संचित कर्मोंकी स्वतः ही निवृति हो जाती है और वह ज्ञानी पुरुष ज्ञानप्रकाशसे प्रदीप्त हो जाता है अर्थात् वह संवित्प्रकाशसे युक्त सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मभावमें विलीन हो जाता है ॥८॥

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वान् न चान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी ।
अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्वममुत्र भुङ्क्ते पुनरेति मार्गम् ॥ ९ ॥

ज्ञानेन चात्मानं परमात्मानमुपैति प्राप्नोति विद्वानात्मवित् । अन्यथा पुनरीश्वरार्थं कर्माननुष्ठानेनाक्षपिताशेषकल्मषो ज्ञानी न भवति । तदा वर्गफलानुकाङ्क्षी इन्द्रियफलानुकाङ्क्षी स्वर्गादिफलानुकाङ्क्षी सन् अस्मिन् लोके कृतं तद्यज्ञादिकं परिगृह्य सर्वममुत्र परलोके तत्फलमुपभुङ्क्ते । ततः कर्मशेषेण पुनरेति मार्गं संसारमार्गम् । तथा च श्रुतिः—'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इति ॥९॥

इदानीं विद्वदविद्वदपेक्षया कर्मणां फलवैषम्यमाह—

अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते ।
ब्राह्मणानां तपः स्वृद्धमन्येषां तावदेव तत् ॥ १० ॥

जबकि विद्वान् पुरुष तत्त्वज्ञान द्वारा ही आत्मस्वरूपकी प्राप्ति कर सकता है इससे भिन्न किसी साधनसे नहीं । यदि वह इन्द्रियोंके धर्मोंका इच्छा रखनेवाला है तो इस लोकमें किये हुए सारे कर्मोंको ग्रहणकर उन सबका फल भोगता है और वह बारम्बार संसारधर्मको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वह आत्मवेत्ता पुरुष तत्त्वज्ञानके माध्यमसे आत्मा-परमब्रह्म परमात्माका दर्शन कर लेता है । इसके अतिरिक्त यदि परमेश्वरकी प्रीतिके निमित्त कर्मानुष्ठान नहीं करता है तो उसके द्वारा अनुष्ठान न करनेपर पापकर्मका क्षय होना सर्वथा असम्भव ही है, इसलिए वह तत्त्वज्ञानी नहीं हो सकता है । तब वर्गफलानुकाङ्क्षी-चक्षु आदि इन्द्रियोंके विषयादिरूप फलोंकी अभिलाषा रखनेवाला स्वर्गादिविषयक फलका इच्छुक होनेपर इस लोकमें अनुष्ठित समस्त यज्ञादि कर्मोंको ग्रहण करते हुए परलोकमें पहुँचकर उन सबका फल भोगता है । इसके अनन्तर वहाँपर कर्मक्षयपर्यन्त रहकरके फिर संसारधर्मको प्राप्त हो जाता है । ऐसा ही भगवती श्रुतिका कथन है कि––उस लोकमें जब तक कर्मोंका क्षय नहीं होता है तब तक वहाँपर रहकर इस संसारमार्गमें लौट आते हैं ॥' ९ ॥

अब ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषकी दृष्टिसे कर्मफलका वैषम्य दिखलाया जाता है—

इस लोकमें जो तपरूप कर्म किया जाता है उसका फल दूसरे लोकमें भोगा जाता है । किन्तु ब्रह्मनिष्ठजनोंका तप तो समृद्ध होता है और दूसरे लोगोंका तप सीमित रहता है ॥ १० ॥

अस्मिन् लोके यत् तपस्तप्तं फलं तस्य अन्यत्र, अमुष्मिँल्लोके भुज्यत इति तावत् सर्वेषां समानम्। ब्राह्मणानां ब्रह्मविदां पुनरयं विशेषः—तपः स्वृद्धम् अतीवसमृद्धं भवति फलवृद्धिहेतुर्भवतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इति। अन्येषामनात्मविदां वैषयिकाणां तावदेव तन्न समृद्धं भवति; यस्य कर्मंणो यत्फलं श्रुतं तावन्मात्रफलसाधनं न फलसमृद्धिहेतुर्भवतीत्यर्थः ॥१०॥

श्रुत्वैवमाह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच

कथं समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम्।
सनत्सुजात तद्ब्रूहि कथं विद्यामहं प्रभो॥ ११॥

ऋज्वेतत् ॥ ११॥

जो तपस्वी पुरुषोंके द्वारा इस लोकमें तपका आचरण किया जाता है उस तपको व्यक्ति परलोकमें भोगता है; जबकि यह सभी लोगोंके लिए एक-सा ही नियम है किन्तु ब्रह्मनिष्ठजनोंके तपकी महान् महिमा है कि उनका तप समृद्ध अर्थात् ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंका तप अत्यन्त समृद्ध होता है। भावार्थ यह है कि ब्रह्मनिष्ठपुरुषोंका तप अत्यन्त समृद्ध होनेके कारण फलाभिवृद्धिमें कारण बन जाता है। और इस विषयमें भगवती श्रुतिका प्रमाण है कि—'जो कर्मानुष्ठान विद्यापूर्वक श्रद्धासे और ज्ञानसे किया जाता है वह अत्यन्त महान् फल देनेवाला होता है।' किन्तु दूसरे जो ज्ञानहीन वैषयिक जीव हैं उन लोगोंका कर्म कुछ सीमित क्षेत्रमें रहता है जिससे अधिक फलकी प्राप्ति नहीं हो पाती है और यही समृद्ध न होनेमें हेतु भी है। इसलिए कि वह वैदिक परम्परासे बहिर्मुख है और उनका कर्म अत्यन्त समृद्धिमें हेतु नहीं हो सकता है। आशय यह है कि जिस कर्मका जो फल सुननेमें आता है वह उतने ही अंशका साधक माना जाता है अत एव वह कर्म फलकी अभिवृद्धिका हेतु नहीं बनता है॥ १०॥

राजा धृतराष्ट्रने इस प्रकार श्रवण करके कहा कि—

धृतराष्ट्र बोले—हे सनत्सुजात! अत्यन्त समृद्ध तपका क्या स्वरूप है? हे प्रभो! यह मैं कैसे मानूँ। अतः इस विषयमें मुझ जिज्ञासुके प्रति वर्णन कीजिये॥ ११॥

इसका अर्थ तो सरल है॥ ११॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—

सनत्सुजात उवाच

निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परिचक्षते ।
एतत्समृद्धमत्यर्थं तपो भवति नान्यथा ॥ १२ ॥

यदेतन्निष्कल्मषं तपः, तत्केवलं परिचक्षते केवलं बीजमित्युक्तम् । सर्वस्यास्य प्रपञ्चस्य बीजं निमित्तं यत्तत्केवलमित्युक्तम् । आहोशना—

'गुणसाम्ये स्थितं तत्त्वं केवलं त्विति कथ्यते ।
केवलादेतदुद्भूतं जगत्सदसदात्मकम् ॥'

इति । तद् एतदेव केवलं तपः समृद्धमत्यर्थं च भवति नान्यथा । यदा निष्कल्मषं न भवति सकल्मषं स्यात्तदा समृद्धमत्यर्थं च न भवति । १२॥

एतदेव प्रशंसति—

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।
तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ॥ १३ ॥

राजा धृतराष्ट्र द्वारा उक्त प्रकारसे जिज्ञासा करनेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा कि—

सनत्सुजात बोले—जो तप पापरहित है, वस्तुतः वही तप कहलाता है अत एव यही तप अत्यन्त समृद्ध समझा जाता है इससे भिन्न नहीं ॥ १२ ॥

जो यह निर्दोष तप है वह केवल शब्दसे प्रसिद्ध है इसलिए कि वह केवल शब्दसे बीजरूप कहा गया है; क्योंकि यही समस्त प्रपञ्चका बीज-निमित्त भी है इसीसे उसको केवल कहा जाता है। इस विषयमें शुक्राचार्यका कहना है कि— सत्त्वादि गुणोंकी साम्यावस्थामें अवस्थित तत्त्व केवल शब्दसे प्रसिद्ध है और केवल तत्त्वसे ही यह सदसद्रूप सारा प्रपञ्च जगत्के रूपमें अभिव्यक्त हो गया है।' और वह यह केवल तप ही अत्यन्त समृद्ध होता है। इससे भिन्न नहीं, जब तक निर्दोष नहीं हो जाता और पाप कर्ममें संसक्त रहता है तब तक वह अत्यन्त समृद्ध भी नहीं होता है ॥ १२ ॥

इसका समर्थन किया जा रहा है—

हे क्षत्रिय ! तुम मुझसे जो कुछ पूछना चाहते हो, वह सब तपका ही मूल कारण माना गया है। इसलिए वेदज्ञजनोंने तपसे ही परम अमृत तत्त्वको पाया है ॥ १३ ॥

स्पष्टार्थः श्लोकः ॥१३॥

श्रुत्वेवमाह राजा—

धृतराष्ट्र उवाच

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः ।
सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ॥ १४ ॥

'निष्कल्मषं तपस्त्वेतत्केवलं परिचक्षते' इति श्रुतस्य तपसः कल्मषं ब्रूहि हे सनत्सुजात ! येन निष्कल्मषेण तपसेदं गुह्यं सनातनं ब्रह्माहं विद्यामिति ॥१४॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

सनत्सुजात उवाच

क्रोधादयो द्वादश दोषास्तथा नृशंसानि च सप्त राजन् ।
ज्ञानादयो द्वादश चातताना: शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ॥१५॥

क्रोधादयो यस्य तपसो द्वादश दोषाः कल्मषाः, तथा नृशंसानि च सप्त हे राजन् ! यस्य तपसो दोषाः, तथा ज्ञानादयो द्वादश चातताना विस्तीर्ण-

इस सूत्रका स्पष्ट अर्थ ही है ॥ १३ ॥

इस प्रकारसे श्रवण करके राजा धृतराष्ट्रने कहा कि—

धृतराष्ट्र बोले—हे सनत्सुजात ! मैंने निर्दोष तपकी महिमा सुनी, किन्तु अब आप तपसे होनेवाले दोषोंका वर्णन कीजिये, जिससे यह गुह्य सनातनतत्त्वको मैं हृदयमें धारण कर सकूँ ॥ १४ ॥

हे सनत्सुजात ! जो तप निष्कलंक होता है, वस्तुत: वही केवल शुद्ध तपके विषयमें मुझ जिज्ञासुके प्रति वर्णन कीजिये, जिस निष्कल्मष तपके द्वारा मैं इस सनातन गुह्य ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकूँ ॥ १४ ॥

इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रके द्वारा जिज्ञासा करनेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा कि—

श्रीसनत्सुजात बोले—हे राजन् ! जिस तपके क्रोधादि बारह प्रकारके दोष तथा सप्त प्रकारके घातक और ब्राह्मणजनोंके लिए शास्त्रमें ये बारह प्रकारके ज्ञानादि गुण भी अभिहित हैं। उनका क्रमशः विवेचन किया जायेगा ॥ १५ ॥

हे राजन् ! जिस तपस्याके क्रोधादि द्वादश प्रकारके दोष हैं तथा सात प्रकारके हिंसक दोष भी हो जाते हैं तथा जो वेदशास्त्रमें ज्ञानादि गुण हैं और

माणाः शास्त्रे वेदशास्त्रे ये विदिता गुणा द्विजानां तानेतान् गुणान् दोषांश्च वक्ष्यामीत्यभिप्रायः ॥१५॥

क्रोधादीन् दर्शयति—

क्रोधः कामो लोभमोहौ विवित्साऽकृपासूया मानशोकौ स्पृहा च ।
ईर्ष्या जुगुप्सा च महागुणेन सदा वर्ज्या द्वादशैते नरेण ॥१६॥

क्रोधो नाम कामप्रतिघातादुत्पद्यमानस्ताडनाक्रोशनादिहेतुः, कामहानिहेतुकश्चान्तःकरणविक्षेपो गात्रस्वेदकम्पनादिलिङ्गः । कामः स्त्र्याद्यभिलाषः । लोभः परद्रव्येच्छा, आर्जितस्य स्वकीयस्य द्रव्यस्य तीर्थविनियोगासामर्थ्यं वा । मोहः कृत्याकृत्यविवेकशून्यता । विवित्सा विषयरसान्वेत्तुमिच्छा । अकृपा निष्ठुरता । असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्, परगुणादिष्वक्षमा वा । मानः—आत्मबहुमानित्वम् । शोकः—इष्टार्थवियोगजोऽन्तःकरणविक्षेपो रोदनचिन्तनादिलिङ्गोऽप्रतीकारविषयः । स्पृहा विषयभोगेच्छा । ईर्ष्या परश्रियामसहिष्णुता । जुगुप्सा परगुणानपह्नोतुमिच्छा, बीभत्सा वा ।

जो द्विजोंके लिए सर्वोत्कृष्टताके द्योतक महान् गुण हैं; मैं उन सभी दिव्य गुणोंका विवेचन करूँगा । यही आशय है ॥ १५ ॥

सम्प्रति द्वादश प्रकारके क्रोधादि दोषोंका वर्णन करते हैं—

काम, क्रोध, लोभ, मोह, विवित्सा, अकृपा, असूया, मान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और जुगुप्सा आदि दोष गुणग्राही मनुष्यके लिए सर्वथा त्याज्य है ॥ १६ ॥

क्रोध उसीका नाम है जो कामके प्रतिघातसे उत्पन्न होता है और प्रताडन, आक्रोश आदिका मूल कारण बन जाता है और अभिलषित वस्तुकी क्षतिका हेतु भी है इसलिए कामनाके प्रतिघातसे उत्पन्न होनेके कारण अन्तःकरणमें विक्षेप पैदा करता है और शरीरमें पसीना तथा प्रकम्पनादि होने लगता है वही उसका ज्ञापक है । कान्ता आदिकी अभिलाषा करना काम कहलाता है । दूसरेके धनको कामना करना लोभ है, अपनेसे उपार्जित द्रव्यका तीर्थक्षेत्रमें या धार्मिक कार्यमें समुचित उपयोग न होना लोभ है । कर्तव्याकर्तव्यादिमें विवेकका अभाव होना मोह है । शब्दादि विषय-सम्बन्धी रसोंको जाननेकी इच्छा विवित्सा है । कृपाका अभाव होना नैष्ठुर्य है । दिव्य गुणोंमें दोष देखना असूया है अथवा दूसरोंके गुणोंको सहन करनेकी शक्तिका अभाव होना भी असूया कहा जाता है । अपने आपको सबसे अधिक समझ लेना ही

एते क्रोधादयो द्वादश दोषाः, तपसःकल्मषरूपाः सदा वर्ज्या महागुणेन ब्राह्मणेन। ब्राह्मणानामुत्कृष्टगुणयोगः स्वभावसिद्धः। तथा चोक्तं भगवता--

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ इति॥

अथवा महागुणो ब्रह्मप्राप्तिगुणस्तेन ब्रह्मप्राप्तिलक्षणेन महागुणसमन्वितेन सदा वर्जनीया इत्यर्थः।

उक्तं च नाममहोदधौ—

महान् ब्रह्मेति च प्रोक्तो महत्त्वान्महतामपि।
तत्प्राप्तिगुणसंयुक्तो महागुण इति स्मृतः॥ इति॥ १६॥

तेषां सदा वर्ज्यत्वे हेतुमाह--

एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यं पर्युपासते।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः॥ १७॥

मान है। रोदन और चिन्तनादि जिसमें हेतु हैं तथा जिसके प्रतीकारका उपाय नहीं है ऐसा अभीष्ट वस्तुके वियोगजनित अन्तःकरणमें विक्षेपका होना शोक है। विषयभोगकी उत्कृष्ट इच्छाका उदय होना स्पृहा कहा जाता है। दूसरे लोगोंके ऐश्वर्यको सहन न करनेकी क्षमता ही ईर्ष्या है। और अन्य लोगोंके अच्छे गुणोंको गुप्त रखनेकी इच्छाका नाम जुगुप्सा है, अथवा दूसरोंके गुणोंको देखकरके घृणाका उत्पन्न होना भी जुगुप्सा है। महान् गुण-गरिमासे युक्त ब्रह्मनिष्ठ पुरुष इन क्रोधादि द्वादश दोषोंका सदा त्याग दें; क्योंकि ये दोष तपमें विघ्नरूप होते हैं। इसलिए कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुषोंका तो सर्वोत्कृष्ट गुणोंसे सम्बन्ध स्वाभाविक होता है। ऐसा ही गीताशास्त्रमें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया है कि—शय, दम, पवित्रता, तप, क्षमाभाव, सरलता, आस्तिक्य-बुद्धि, वेदशास्त्र-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान और परमात्मतत्त्वका अनुभव भी ये सब ब्रह्मनिष्ठ पुरुषमें स्वभावसिद्ध धर्म रहते हैं।' अथवा महान् गुण अर्थात् ब्रह्मतत्त्व-की प्राप्तिका गुण जिसमें विद्यमान हो, उस ब्रह्मतत्त्व प्राप्तिरूप महान् गुणसे युक्त विद्वज्जनको सदा उक्त क्रोधादि दुर्गुणोंको छोड़ देना चाहिए। यही इसका आशय है। और यही बात नाम महोदधिमें कही गयी है कि—महान् वस्तुओंमें भी महत्त्वपूर्ण होनेके कारण ब्रह्मको महान् शब्दसे कहा गया है; जबकि यह उसकी प्राप्तिके गुणसे युक्त है इसीसे वह महान् गुण है॥ १६॥

उक्त सब दोष सर्वथा छोड़ने योग्य है, इसमें हेतु दिखलाते हैं—

यथा मृगाणामन्तरं छिद्रं लिप्समानो रन्ध्रान्वेषणपरो लुब्धको मृगयुरनुवर्तते, यथा च छिद्रं लब्ध्वा तान् हन्ति, तथा तेषां मनुष्याणां रन्ध्रान्वेषणपरा एते क्रोधादय एकैकं मनुष्यं पर्युपासते।

अथवा, मनुष्यान् पर्युपासते, इति पाठः। तस्मिन्, एकैकं पृथक् पृथक् मनुष्यान् पर्युपासत इति योजना। तथा छिद्रं लब्ध्वा तान् घ्नन्ति। तस्मादेतेष्वेकोऽपि दोषो विनाशकारणम्। यस्मादेवं तस्मात्सदा वर्ज्या इत्यर्थः। उक्तं च हैरण्यगर्भे--

यथा पान्थस्य कान्तारे सिंहव्याघ्रमृगादयः।
उपद्रवकरास्तद्वत् क्रोधाद्या दुर्गुणा नृणाम्॥ इति ॥१७॥

इदानीं नृशंससप्तकमाह--

सम्भोगसंविद्विषमेधमानो दत्तानुतापी कृपणोऽबलीयान्।
वर्गप्रशंसी वनितां च द्वेष्टा एते परे सप्त नृशंसरूपाः॥ १८॥

हे राजेन्द्र! जैसे बहेलिया मृगोंके वध करनेके लिए तत्पर रहता है वैसे ये क्रोधादि दोष मनुष्यके छिद्रान्वेषण करनेमें तत्पर रहते हैं॥ १७॥

जैसे व्याघ्र मृगोंमें कहीं छिद्र मिल जाय इसी इच्छासे उनके वधके अन्वेषणमें सदैव तत्पर होकर पीछे-पीछे घूमता रहता है और जिस समय उसे छिद्र मिल जाता है तो उन्हें मार देता है, वैसे ये क्रोधादि छिद्रान्वेषणमें तत्पर होकर प्रत्येक मनुष्यको चारों ओरसे घेर लेते हैं।

अथवा 'मनुष्यान् पर्युपासते' इस प्रकार पाठभेद माननेपर भी यही भाव निकलता है कि उसमेंसे प्रत्येक मनुष्योंको पृथक्-पृथग्रूपसे दोष घेरे रहते हैं तथा छिद्र मिल जानेपर उन्हें मार देते हैं। इसीसे इनमेंसे एक भी दुर्गुण मनुष्यके विनाशका कारण बन जाता है; जबकि इस प्रकार है इसलिए उक्त क्रोधादि दोष सर्वथा छोड़ने योग्य हैं। और यही बात हिरण्यगर्भ संहितामें कही गयी है कि जैसे पथिकके लिए वन्य हिंसक, पशु, सिंह, व्याघ्र और मृगादि उपद्रव करनेवाले होते हैं, वैसे ही मनुष्योंके लिए क्रोधादिरूप दोष उपद्रव रूप ही होते हैं॥ १७॥

सम्प्रति सप्तनृशंसके विषयमें वर्णन किया जा रहा है—

भोगमें आसक्त चित्तवाला, विषको बढ़ानेवाला, दान देनेके पश्चात् पश्चाताप करनेवाला कृपण, बलहीन, इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगोंके प्रशंसक और पत्नीको दुःख देनेवाला हैं॥ १८॥

सम्भोगे विषयसम्भोगे संविद् बुद्धिर्यस्य वर्तते स सम्भोगसंविद् विषमेधमानः––विषमिव परेषाम् उपद्रवं कृत्वा एधमानो वर्द्धमानः, अथवा द्विषमेधमान इति पाठान्तरम्। द्विषं द्वेष्यं कर्म कृत्वा प्राणिनां तद्द्वारेण एधमानः। दत्तानुतापी––यः पूर्वं धर्मबुद्धया धनादिकं दत्त्वा पश्चात् किमर्थमहं दत्तवानिति तप्तो भवति स दत्तानुतापी। कृपणः––यत्किंचिदर्थलवलाभमात्रलोभात्सर्वावमानं सहते यः स कृपणः। अबलीयान्––ज्ञानबलवर्जितः। वर्गप्रशंसी–इन्द्रियवर्गप्रशंसी। वनितां च द्वेष्टा, अनन्यशरणां भार्यां यो द्वेष्टि। एते परे पूर्वोक्तेभ्यः क्रोधादिभ्यः सप्त नृशंसरूपाः ॥१८॥

इदानीं ज्ञानादयो द्वादश गुणा उच्यन्ते––

ज्ञानं च सत्यं च दमः श्रुतं च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षाऽनसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः शमश्च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ १९ ॥

ज्ञानं तत्त्वार्थसंवेदनम्। सत्यं यथार्थभाषणं भूतहितं च। दमो मनसो दमनम्। श्रुतम् अध्यात्मशास्त्रश्रवणम्। मात्सर्यं सर्वभूतेष्वसहमानता तद-

जिस प्राणीकी बुद्धि विषयरस संभोगमें लगी हुई है वह संभोग संवित् कहलाता है। विषकी भाँति दूसरे लोगोंके लिए उपद्रवकर अभिवृद्धिको प्राप्त होनेवाला, अथवा 'द्विषमेधमान:' ऐसा पाठान्तर करनेपर भी यही अर्थ निकलता है कि प्राणियोंके प्रति द्विष-द्वेषकर्म कर उसके द्वारा अभिवृद्धिको प्राप्त होनेवाला जो पहले धर्मबुद्धिसे प्रेरित होकर धन, वस्त्र आदि वस्तुओंको देकर पश्चात् मैंने ऐसे क्यों व्यर्थमें सब दान दे दिया।' इस प्रकार मानसिक संताप करने लगता है उसीका नाम दत्तानुतापी है। जो कुछ थोड़ी-सी अर्थसिद्धिसे लाभ होनेवाला है तो भी बड़ा भारी अपमान सहता है, वह कृपण कहलाता है। अबलीयान्—ज्ञानशक्तिसे रहित। वर्गप्रशंसी-इन्द्रियोंसे भोगे जानेवाले पदार्थोंमें आसक्त बुद्धि होकर सदा चलते-फिरते स्मरण करनेवाला। और पत्नीसे द्वेषभाव रखनेवाला अर्थात् जो अनन्य शरण अपनी भार्यासे द्वेषभाव रखता है। ये पूर्वोक्त द्वादश क्रोधादिसे व्यतिरिक्त सप्त नृशंसरूप हैं ॥१८॥

सम्प्रति ज्ञानादि द्वादश गुणोंके विषयमें वर्णन किया जाता है—

ज्ञान, सत्य, दम, श्रुति, अमात्सर्य, लज्जा, सहनशीलता, अनसूया, यज्ञ, दान, धृति और शम ये द्वादश ब्रह्मनिष्ठ पुरुषके लिए महाव्रत हैं ॥ १९ ॥

पदार्थका भलीप्रकार बोध होना ही ज्ञान है। सत्य अर्थात् समस्त भूत-प्राणियोंके लिए कल्याणकर और यथार्थ वचन। मनकी बाह्य विषयोंसे

भावोऽमात्सर्यम् । ह्रीः--अकार्यंकरणे लज्जा । तितिक्षा द्वन्द्वसहिष्णता । अनसूया परदोषानाविष्करणम् । यज्ञः--अग्निष्टोमादिः, महायज्ञश्च । दानं ब्राह्मणादिभ्यो धनादिपरित्यागः । धृति;--विषयसंनिधावपीन्द्रियनिग्रहः । शमः--अन्तः-करणोपरतिः, बहिःकरणोपरतिरिति केचित् । एते ज्ञानादयो महाव्रताः परम-पुरुषार्थसाधनभूता ब्राह्मणस्य ॥ १९ ॥

ये 'ज्ञानादयो द्वादश चातताना:' इति पूर्वं प्रस्तुताः, ते वर्णिताः । इदानीं गुणस्तुतिं करोति--

यस्त्वेतेभ्योऽप्रवसेद् द्वादशभ्यः सर्वामिमां पृथिवीं स प्रशिष्यात्।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वाविमुक्ताः क्रमाद् विशिष्टा मौनभूता भवन्ति॥२०॥

यस्त्वेतेभ्यः पूर्वोक्तेभ्योऽप्रवसेत् प्रवासं न करोति तैरेव समन्वितो भवेत्, स सर्वामिमां पृथिवीं प्रशिष्यात् प्रशास्ति, आत्मवश्यां करोति । य एतेषा मध्ये

निवृत्ति करना और स्वस्वरूपमें समाहित कर लेना दम है। निरन्तर अध्यात्म-शास्त्रका श्रवण करना श्रुत है। मात्सर्य—सभी जीवोंके प्रति असहानुभूति, न करने योग्य कार्यके करनेमें लज्जाका अनुभव होना ही है। शीत-ऊष्ण, सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंके सहन करनेका सामर्थ्य ही तितिक्षा है। गुणग्राही व्यक्तियोंमें छिद्रान्वेषणकर दोष निकालना असूया है। यज्ञ-ज्योतिष्टोमादि और महायज्ञ। ब्राह्मणोंको सम्मानके साथ धनादिका देना दान है। विषयोंकी सन्निधिमें भी इन्द्रियोंके ऊपर संयम रखना धृति है। अन्तःकरणकी शान्ति शम है और कुछ लोगोंने बाह्य इन्द्रियोंसे उपराम हो जाना भी शम माना है। परम-पुरुषार्थकी प्राप्तिके साधनरूपसे ज्ञानादि द्वादश गुण ब्रह्मनिष्ठ पुरुषके लिए महाव्रत हैं॥ १९॥

'ज्ञानादयो द्वादश चातताना:।' इत्यादि श्लोकसे जिनका पूर्वमें ही विवेचन कर दिया था, उन्हींका प्रतिपादन किया है। अब गुणोंकी प्रशंसा की जा रही है—

जो व्यक्ति इन द्वादश गुणोंको धारण करता है वह समस्त वसुधाका प्रशासन करता है और जो इनमेंसे तीन, दो अथवा एक महाव्रतसे भी दूर नहीं हैं वे क्रमशः विशिष्ट होकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं॥ २०॥

जो व्यक्ति पूर्वोक्त द्वादश गुणोंसे प्रवास नहीं करता है अर्थात् उन गुणोंसे युक्त हो जाता है। वह पुरुष इस समग्र पृथिवीका प्रशासन कर लेता है अपने वशीभूत कर लेता है, जो व्यक्ति इन गुणोंके बीचमेंसे तीन, दो अथवा

त्रिभिर्द्वाभ्याम् एकत एकस्माद्वा अविमुक्ता एतेषामन्यतमेनापि समन्विताः, त एते क्रमेण विशिष्टा ज्ञानिनो भूत्वा मौनभूता ब्रह्मभूता भवन्ति ॥ २० ॥

इदानीं दमदोषानाह श्लोकत्रयेण--

दमोऽष्टादशदोषः स्यात् प्रतिकूलं कृते भवेत् ।
अनृतं पैशुनं तृष्णा प्रतिकूल्यं तमोऽरतिः ॥ २१ ॥
लोकद्वेषोऽभिमानश्च विवादः प्राणिपीडनम् ।
परिवादोऽतिवादश्च परितापोऽक्षमाधृतिः ॥ २२ ॥
असिद्धिः पापकृत्यं च हिंसा चेति प्रकीर्तिताः ।
एतैर्दोषैर्विमुक्तो यः स दमः सद्भिरुच्यते ॥ २३ ॥

दमोऽष्टादशदोषः स्यात्, अष्टादशदोषसमन्वितो भवति । किमेतेषां दोषत्वमिति चेत्, प्रतिकूलं कृते भवेत् । एतेषामन्यतमे कृते दमस्य प्रतिकूलं कृतं भवेत् । के ते ? अनृतम् अयथार्थवचनम् । पैशुनं परदूषणवचनम् । तृष्णा विषयेप्सा । प्रातिकूल्यं सर्वेषां प्रतिकूलता । तमोऽज्ञानम् । अरतिः--अयथालाभ-

किसी एक गुणसे भी अयुक्त नहीं होते हैं अर्थात् इनमेंसे किसी एक गुणसे भी संयुक्त रहते हैं, वे लोग क्रमशः विशिष्ट ज्ञानी होकर मौनभूत अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं ॥ २० ॥

सम्प्रति श्लोकत्रयसे दम-सम्बन्धी दोषोंका वर्णन किया जा रहा है—

जबकि प्रतिकूल आचरण करनेपर सम्भव है दम भी अष्टादश दोषोंसे संपृक्त हो जायें । अनृत, पैशुन, तृण, अनुकूलताका अभाव, अज्ञान, प्रमाद, प्रत्येक प्राणीके साथ द्वेषभाव रखना, अभिमान, विवाद, प्राणियोंका उत्पीडन, परिवाद, अतिवाद, परिताप, अक्षमा, अधृति, असिद्धि, पापकर्म और हिंसा इस प्रकार दमके दोष कहे गये हैं । जो उक्त दुर्गुणोंसे विमुक्त रहता है साधुलोग उसे ही दम कहते हैं ॥ २१-२२-२३ ॥

दम अठारह दोषोंसे युक्त रहता है अर्थात् वह दम अठारह दुर्गुणोंसे सम्बद्ध रहता है यदि इन दुर्गुणोंमें कौन-सा दोषत्व है ? तो सुनो—इन दुर्गुणोंके रहनेपर प्रतिकूल होता है अर्थात् इन दुर्गुणोंमेंसे किसी भी एकके विद्यमान रहनेपर दमसे प्रतिकूल व्यवहार होता है । वे दुर्गुण कौन-से हैं ? अनृत-सत्यहीन कथन, पैशुन-अपनेसे भिन्न दूसरे लोगोंमें दोष निकालना, तृष्णा-विषयसम्बन्धी उत्कृष्ट इच्छाका होना । सभीके साथ अनुकूलताका अभाव प्रतिकूल्य

संतुष्टिः, अथवा रतिः स्त्रीसम्भोगेष्वभिरतिः। लोकद्वेषो लोकानामुद्वेगाचरणम्। अभिमानः सर्वेषामप्रणतिभावः। विवादो जनकलहाचरणम्। प्राणिपीडनं स्वदेहपूरणाय प्राणिहिंसनम्। परिवादः समक्षे परदूषणाभिधानम्। अतिवादो निरर्थकोऽतिप्रलापो। परितापो वृथादुःखचिन्तनम्। अक्षमा द्वन्द्वासहिष्णुता। अधृतिरिन्द्रियार्थेषु चपलता। असिद्धिर्धर्मज्ञानवैराग्याणाम्। पापकृत्यं प्रतिषिद्धाचरणम्। हिंसा अविहितहिंसा। इतीत्थं दमदोषाः प्रकीर्तिताः। एतैरनृतादिभिर्दोषैर्विमुक्तो यो गुणः स दम इति सद्भिरुच्यते ॥ २१-२३ ॥

इदानीं मददोषानाह--

> यदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागो भवति षड्विधः।
> विपर्ययाः स्मृता ह्येते मददोषा उदाहृताः ॥ २४ ॥

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागश्च षड्विधो भवति। विपर्ययाः स्मृताः- एतेऽनृतादिहिंसान्ता ये दमदोषत्वेन स्मृताः, त एते विपर्ययाः स्मृता सत्यादिरूपत्वेन स्मृता मददोषा मदनाशकरा उदाहृताः।

है। तमस-अज्ञान। अरति-यथा लाभमें सन्तुष्टिका अभाव अथवा स्त्री संभोगमें अनुरागका बढ़ना। लोक-द्वेष अर्थात् सभी भूत-प्राणियोंको उद्वेग हो ऐसा आचरण-व्यवहार करना। अभिमान सबके प्रति अनम्रताका भाव। विवाद-लोगोंके साथ अकारण ही कलह करना। प्राणिपीडन-अपने शरीरके पोषणके निमित्त निरीह प्राणियोंकी हत्या करना। परिवाद—दूसरेके दोषोंको उसके समक्ष कहना। अतिवाद निरर्थक प्रलाप करना। परिताप-व्यर्थ चिन्ता करना। अक्षमा-सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको सहनेका सामर्थ्य न होना। अधृति-इन्द्रियोंके विषयोंमें चपलता। असिद्धि-धर्म, ज्ञान और वैराग्यानि साधनोंमें शास्त्रविहित हिंसा। सफलताका अभाव। पापकृत्य-शास्त्र प्रतिषिद्ध आचरण करना। हिंसा–

ये दमके दोष बतला दिये। इन अनृतादि दोषोंसे शून्य जो निर्दोष गुण हैं, साधु पुरुष उन्हींको दम कहते हैं ॥ २१-२२-२३ ॥

अब मदके दोषोंका वर्णन किया जा रहा है—

मदसे अष्टादश दोष उत्पन्न होते हैं और त्याग छः प्रकारका होता है। जो ये पहले हिंसादि दोष कहे गये हैं, वे विपरीत रूपसे स्मरण करनेपर मदके विध्वंसक होते हैं ॥ २४ ॥

मद अष्टादश दोषोंसे युक्त रहता है और त्याग छः प्रकारका होता है। विपर्ययाः स्मृताः अर्थात् ये सत्यादि विपरीत स्वभावसे स्मरण करनेपर मदरूप

के ते? सत्यापैशुनातृष्णाप्रातिकूल्यातमोऽरतिलोकाद्वेषानभिमाना- विवादाप्राणिहिंसापरिवादानतिवादा परितापक्षमाधृतिसिद्धचपापकृत्याहिंसा इत्येते मदनाशकरा उदाहृताः ॥ २४ ॥

'त्यागो भवति षड्विधः' इत्युक्तम् । तत्राह—

श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयस्तत्र दुष्करः ।
तेन दुःखं तरन्त्येव तस्मिंस्त्यक्ते जितं भवेत् ॥ २५ ॥

श्रेयान् तु षड्विधः त्यागः, तत्र एतेषु षड्विधत्यागेषु मध्ये तृतीयत्यागो दुष्करो दुःखसम्पाद्यो भवति । तेन तृतीयेन त्यागेन दुःखम् आध्यत्मिकादिभेद- भिन्नं तरन्त्येव तस्मिन् त्यागे कृते सति सर्वं जितं भवेत् ॥ २५ ॥

त्यागषट्कं दर्शयति—

अर्हते याचमानाय पुत्रान् वित्तं ददाति यत् ।
इष्टापूर्तं द्वितीयं स्यान्नित्यं वैराग्ययोगतः ॥ २६ ॥
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः ।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो मतः ॥ २७ ॥

दुर्गुणोंको विनष्ट कर देते हैं, जैसे असत्यादि दोष दमके विध्वंसक हैं वैसे सत्यादि गुण भी मदके विनाशक कहे गये हैं।

यह बात ठीक है किन्तु वे मदके दोष कौन-से हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि—सत्य, अपैशुन, अतृष्णा, अनुकूलता, ज्ञान, अरति, लोभ, द्वेषसे रहित अभिमानका अभाव, प्राणियोंको हिंसा न करना, अपरिताप, क्षमा, धृति, सिद्धि, विध्वंसक कहे हैं ॥ २४ ॥

त्याग छः प्रकारका होता है, ऐसा जो कहा गया है, इसपर कहते हैं—

यद्यपि त्याग छः प्रकारका सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है तो भी उनमें तृतीय कोटिका त्याग अत्यन्त कठिन है; क्योंकि उससे समस्त द्वन्द्वोंकी निवृत्ति हो जाती है और उसको छोड़ देनेपर तो सर्वविजेता हो जाता है ॥ २५ ॥

अब छः प्रकारके त्यागका वर्णन किया जा रहा है।

सुपात्र याचकके लिए जो पुत्र एवं धनका दानके रूपमें देना ही पहला त्याग है। दूसरा–त्याग, इष्ट और पूर्तकर्म है तथा नित्य वैराग्यभावमें स्थिर रहना। हे राजेन्द्र! कामनाका त्याग करना तृतीय कोटिका त्याग है इनसे

अर्हते योग्याय याचमानाय पुत्रान् वित्तं ददाति यत् तदेतत् त्यागद्वयं षण्णां मध्ये प्रथमम्। इष्टापूर्तं द्वितीयं स्यात्—इष्टं श्रौते कर्मणि यद् दानम्। पूर्तं स्मार्ते कर्मणि इष्टं देवेभ्यो दत्तम्, पूर्तं पितृभ्य इति केचित्। नित्यं वैराग्ययोगतो विशुद्धसत्त्वस्यानित्यत्वादिदोषदर्शिनो विरक्ततया धनादिपरित्यागः कामत्यागश्च राजेन्द्र ! स तृतीय इति स्मृतः।

किमेतैर्भवतीत्याह—अप्रमादाति। य एतैः षड्भिस्त्यागैः समन्वितः सोऽप्रमादो भवेत्। सोऽप्रमादोऽष्टगुणः—अष्टभिर्गुणैः समन्वितो भवति ॥ २६-२७ ॥

के ते ? तान् दर्शयति—

सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च।
अस्तेयो ब्रह्मचर्यं च तथासंग्रह एव च ॥ २८ ॥

साधक-पुरुष प्रमादको छोड देता है और वह भी अष्टगुणोंवाला माना गया है ॥ २६-२७ ॥

याचना करनेवाले सुपात्र-सुयोग्य व्यक्तिके लिए जो पुत्र एवं वित्तका दानरूपसे त्याग करता है, वह दो प्रकारका त्याग माना जाता है और उसका छः प्रकारके त्यागोंमें सर्वप्रथम स्थान है। द्वितीय कोटिका त्याग इष्ट एवं पूर्त है। जो दान श्रौतकर्ममें दिया जाता है वह इष्टकर्म कहलाता है और जो स्मार्तकर्ममें दिया जाता है वह पूर्तकर्म कहा जाता है। कुछ लोगोंके मतानुसार देवताओंको निमित्त मान करके दिया जानेवाला दान पूर्त है। हे राजेन्द्र ! वैराग्यके योगसे विशुद्ध अन्तःकरण हुए विषयोंके प्रति नश्वरभावपूर्वक देखनेवाले व्यक्तिमें जो विरक्तभावको लेकर धनादिका परित्याग और कामका त्याग देखनेमें आता है वह तृतीय कोटिके त्यागका लक्षण माना जाता है।

इन त्यागोंसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? इसका 'अप्रमादी' इत्यादि अंशसे उत्तर दिया जाता है—जो पुरुष उक्त तीन प्रकारके त्यागोंसे सम्पन्न होता है वह प्रमाद रहित हो जायेगा। वह अप्रमाद अष्टगुणोंसे युक्त है अर्थात् वह आठगुणोंसे सम्पन्न हो जाता है ॥ २६-२७ ॥

वे कौन-से हैं ? उसका प्रतिपादन करते हैं—सत्य, ध्यान, समाधान, सतुर्क, वैराग्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और असंग्रह इस प्रकार ये आठ गुण कहलाते हैं ॥ २८ ॥

सत्यं यथार्थभाषणम् । ध्यानं चेतसः कस्मिंश्चिच्छुभाश्रये मण्डलपुरुषादौ तैलधारावत्संतत्यविच्छेदिनी प्रवृत्तिः । समाधानं प्रणवेन विश्वाद्युपसंहारं कृत्वा स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनावस्थानम् । चोद्यम् 'कोऽहं कस्य कुतो वा' इत्यादि । वैराग्यं दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णता । अस्तेयोऽचौर्यमात्मनो द्रव्यस्य वा । आत्मचौर्यमुक्तम्—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥ इति ॥

ब्रह्मचर्यम् अष्टाङ्गमैथुनत्यागः । तथा चोक्तम् —

स्मरणं कीर्तनं केलिर्वीक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥

इति । असंग्रहोऽपरिग्रहः पुत्रदारक्षेत्रादीनाम् । एतान् परिपालयेत् ॥२८॥

यथार्थ भाषण करना ही सत्य है, किसी भी सूर्यमण्डलादि शुभ अधिष्ठानमें तैलधारावत् अनवच्छिन्नरूपसे चित्तकी वृत्तिको स्थिर करना ही ध्यान कहलाता है । प्रणवका मानसिक जप करते हुए विश्वके समग्र प्रमेय-पदार्थका उपसंहार कर स्वाभाविक सच्चिदानन्दघन अद्वितीय ब्रह्मात्मभावमें विश्रान्ति लेना ही समाधान है । मैं कौन हूँ' 'किसका मैं हूँ' अथवा कहाँसे मैं आया हूँ' इत्यादि रूपसे अपनेमें सुतर्क करना ही चोद्य कहा जाता है । दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंमें तृष्णाका न होना वैराग्य है । आत्मा अथवा द्रव्य-सम्बन्धी चोरी न करना अस्तेय है । आत्म-सम्बन्धी चोरीका वर्णन किया हुआ यह है कि—जो भिन्न प्रकारके आत्मतत्त्वकी दूसरे ही रूपमें समझता है उस आत्माके हनन करनेवालेसे कौन-सा पाप नहीं हुआ है ।

अष्टप्रकारके मैथुनका त्याग ही ब्रह्मचर्य कहलाता है और ऐसा ही कहा गया है कि—स्त्री-सम्बन्धी स्मरण, उसकी चर्चा, उससे क्रीडा करना, उसे देखना, उससे गोपनीय वार्ता, उसकी प्राप्तिका संकल्प-विचार और फिर उसके लिए यत्न करना एवं क्रियानिष्पत्ति इस प्रकार मनीषीलोग उसे अष्ट-मैथुनके नामसे कहते हैं । इससे विपरीत आठ प्रकारका ब्रह्मचर्य है ।

पुत्र, कलत्र, क्षेत्रादिका परिग्रह न करना असंग्र कहलाता है । इन सबका समुचित रूपसे पालन करना चाहिए ॥ २८ ॥

दोषान् वर्जयेदित्याह—

एवं दोषा दमस्योक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत् ।
दोषत्यागेऽप्रमादः स्यात् स चाप्यष्टगुणो मतः ॥२९॥

'दमोऽष्टादशदोषः स्यात्' इति ये दोषा उक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत् । कस्मादित्याह—'दोषत्यागेऽप्रमादः स्यात्' तेषु दोषेषु त्यक्तेषु प्रमादी न भवेदित्यर्थः । सोऽप्यप्रमादोऽष्टगुणो मतः । 'सत्यं ध्यानम्' इत्यादिना पूर्वमेवोपदिष्टत्वादित्यर्थः ॥ २९ ॥

इदानीं सत्यस्तुतिः क्रियते—

स्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ॥ ३० ॥

सत्यात्मा सत्यस्वरूपो भव हे राजेन्द्र ! सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः । तांस्तु सत्यमुखान् सत्यप्रधानान् सत्याधीनात्मलाभान् आहुः । सत्ये हि अमृतम् आहितम्, अमृतं मोक्षः ॥ ३० ॥

दुर्गुणोंको सर्वथा छोड़ देना चाहिए, इसपर कहते हैं कि—

इस प्रकार जो दमके दोष कहे गये हैं इन दोषोंको सदा छोड़ देना होगा और दोषोंके छोड़ देनेपर ही अप्रमाद उत्पन्न हो सकता है और वह भी अष्टगुणोंसे युक्त माना गया है ॥२९॥

'दम अष्टादश प्रकार का होता है ।' इस सूत्रके अन्तर्गत जो दमके दोष कहे गये हैं उन सभी दोषोंको सर्वथा छोड़ देना चाहिए । क्यों ? इसपर कहते हैं—दोषोंका परित्याग कर देनेपर ही अप्रमादकी स्थिति संभव हो सकती है । भाव यह है कि उन दोषोंका परित्याग करनेसे वह कभी भी प्रमादी नहीं बन सकता है और वह अप्रमाद भी अष्टगुणसे युक्त रहता है । 'सत्यं ध्यानं' इत्यादि अंशसे पूर्वमें ही इसका विवेचन कर दिया है ॥ २९ ॥

सम्प्रति सत्यकी प्रशंसा करते हैं—

हे राजन् ! तुम सत्यधर्म सत्यस्वरूपमें ही स्थित रहो; इसलिए कि समस्त लोक सत्यमें ही प्रतिष्ठित हैं इसी कारण उन्हें सत्यद्वारवाला कहा गया है; जबकि सत्यमें ही अमृत रहता है ॥ ३० ॥

हे राजेन्द्र ! तुम सदा सत्यमें स्थित रहो; क्योंकि समस्त ब्रह्माण्ड सत्यमें

निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत् ।
एतद् धात्रा कृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम् ॥ ३१ ॥

निवृत्तेनैव दोषेण 'क्रोधादयः' (अ० २ श्लो०१५) इत्यादिना पूर्वोक्त-दोषरहितःसन् तपोव्रतमिहाचरेत् । एतद्धात्रा परमेश्वरेण कृतं वृत्तं सत्यमेव सतां परं व्रतम् ॥ ३१ ॥

दोषैरेतैर्विमुक्तं तु गुणैरेतैः समन्वितम् ।
एतत्समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥ ३२ ॥

इदानीम् 'कथं समृद्धमत्यर्थम्' इत्यनेनोपक्रान्तमर्थमुपसंहरति—

दोषैरेतैः 'क्रोधादयः' इत्यादिना पूर्वोक्तैर्विमुक्तं तु गुणैरेतैः ज्ञानादिभिश्च समन्वितं यद् एतत्समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥ ३२ ॥

किं बहुना—

ही प्रतिष्ठित है, उन सत्यमुख-सत्यप्रधान अर्थात् सत्यके आधिपत्यमें ही आत्म-स्फुर्ति देनेवाला कहा है; जबकि सत्य में ही अमृत-मोक्ष प्रस्थापित है ॥ ३० ॥

इस लोकमें समस्त दोषोंकी निवृत्ति कर लेनेपर ही तपस्वी पुरुष व्रतका आचरण करे । जबकि साधुजनोंके लिए व्रत ही सत्य है । इसलिए ब्रह्माने ऐसा सदाचार बनाया है ॥ ३१ ॥

द्वितीय अध्यायके अन्तर्गत 'क्रोधादयः' इत्यादि सूत्रमें विवेचित दोषोंकी निवृत्ति करके विद्वान् पुरुष इस लोकमें तपरूप व्रतका आचरण करे; क्योंकि विधाता- प्ररमेश्वर द्वारा ऐसा ही सदाचारका विधान किया गया है । इसलिए कि सज्जनोंके लिए यह व्रत सर्वोत्कृष्ट माना गया है और यही बात सत्य भी है ॥ ३१ ॥

सम्प्रति इस प्रकारका तप अत्यन्त समृद्ध कैसे होगा ? इत्यादि सूत्रांशसे प्रारम्भ किये हुए विषयका उपसंहार किया जाता है—

जो मुमुक्षुजन इन क्रोधादि दोषोंसे विमुक्त होकर ज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न हो गया है । उसीका यह केवल अत्यन्त समृद्ध तप होता है ॥ ३२ ॥

'क्रोधादयः' इत्यादि अंशसे पूर्वोक्त द्वितीय अध्यायके अन्तर्गत क्रोधादि दोषोंका निर्मूलन करके इन ज्ञानादि गुणसमूहसे युक्त हुआ यह जो समृद्ध तप है, वह तप ही केवल शुद्ध होता है अर्थात् जो क्रोधादि दोषोंसे दूर होकर ज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है उसीका यह विशुद्ध तप कहलाता है ॥३२॥

इस विषयमें अधिक क्या कहा जाय ?

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात् तद् ब्रवीमि ते ।
एतत् पापहरं शुद्धं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ३३ ॥

हे राजेन्द्र ! यन्मां पृच्छसि तत् संक्षेपात् समासतो ब्रवीमि ते। एतद् वक्ष्यमाणं पापहरं शुद्धं फलाभिकाङ्क्षारहितं तपोव्रतं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ३३ ॥

किं तदिति चेत् ? तत्राह—

इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत ।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्तश्चेत् स सुखी भवेत् ॥ ३४ ॥

हे भारत ! यः सविषयेभ्यः पञ्चभ्य इन्द्रियेभ्यो वर्तमानेभ्यो मनसश्चैव तथातीतेभ्योऽनागतेभ्यश्च मुक्तश्चेत् स सुखी भवेत्, मुक्त एव भवेदित्यर्थः ॥३४॥

एवमुक्ते प्राह धृतराष्ट्रः—

हे राजन् ! जो तुम मुझसे पूछ रहे हो, वह संक्षेपमें कहता हूँ। यह पापको विनष्ट करनेवाला विशुद्ध और जन्म-मरण एवं जरा आदि दुःखोंकी निवृत्ति करता है ॥ ३३ ॥

हे राजेन्द्र ! जो कुछ तुम मुझसे पूछ रहे हो, उसका मैं संक्षेप-थोड़ेसे शब्दोंमें वर्णन करूँगा, यह वक्ष्माण लक्षणवाला फलाकांक्षासे शून्य पापका विध्वंसक विशुद्ध तपरूप व्रत जन्म-मृत्यु एवं जरादि दुःखोंकी निवृत्ति करनेवाला होता है ॥ ३३ ॥

यदि यह पूछा जाय कि वह कैसा है तो इस विषयमें कहते हैं—

हे भारत ! इन्द्रियोंसे और उनके विषयोंसे तथा मनसे एवं अतीत-अनागतसे भी यदि वह विमुक्त हो जाता है, तो वह निःसन्देह सुखी हो जायेगा ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! ज्ञानमें प्रीति रखनेवाले ! यदि कोई जिज्ञासु पुरुष विद्यमान पञ्चविषयोंके सहित इन्द्रियोंसे, मनसे, तथा भूत और भविष्यकालीन संस्कारोंसे रहित हो जाता तो यह निश्चित है कि वह विवेकी जन सुखी हो जायेगा अर्थात् विमुक्त ही हो जायेगा ॥ ३४ ॥

राजा धृतराष्ट्रके द्वारा उक्त प्रकारसे जिज्ञासा करनेपर उत्तर दिया जाता है कि—

धृतराष्ट्र उवाच

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कत्थ्यते जनः ।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथापरे ॥ ३५ ॥
द्विवेदाश्चैकवेदाश्च अनृतश्च तथापरे ।
एतेषु मेऽधिकं ब्रूहि यमहं वेद ब्राह्मणम् ॥ ३६ ॥

आख्यानं पुराणं पञ्चमं येषां वेदानां ते आख्यानपञ्चमाः । श्रूयते च छान्दोग्ये—'इतिहासपुराणं पञ्चमम्' इति । तैराख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठम् अत्यर्थं कत्थ्यते श्लाघ्यते बहु मन्यते सर्वस्मादधिकोऽहमिति । कथ्यते इति केचित्पठन्ति । आख्यानपञ्चमैर्वेदैः कश्चिज्जनः पञ्चमवेदीति कथ्यते इत्यर्थः ।

तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाः, अपरे द्विवेदाः, एकवेदाश्च अनृचश्च तथापरे परित्यक्तऋगादिवेदा अपरे । एतेषु मनुष्येष्वधिकं श्रेष्ठं ब्रूहि यमहं ब्राह्मणं वेद विद्याम् ॥ ३५-३६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—

किसी व्यक्ति विशेषको तो जिन वेदोंमें इतिहास, पुराणका स्थान पञ्चम है इस प्रकार पाँच वेदोंको लेकर श्रेष्ठ समझा जाता है । तथा दूसरे चार वेदोंको पढ़नेवाले और अन्य कुछ लोग तीन वेदोंके विशेषज्ञ हैं एवं कोई दो वेदके अध्येता हैं एवं कुछ एक ही वेदको पढ़ते हैं तथा दूसरे कुछ ब्राह्मण अनृच भी हैं, इनमें जो सर्वोत्कृष्ट हो, मेरे प्रति कहिये जिससे कि मैं उसे ब्राह्मण जान लूँ ॥ ३५-३६ ॥

जिन ऋगादि वेदोंमें आख्यान अर्थात् पुराणका पञ्चम स्थान है, वेद 'आख्यानपञ्चम्'के रूपमें प्रसिद्ध हैं । और छान्दोग्योपनिषद्में सुना भी जाता है —

इतिहास, पुराण पञ्चम वेद है उन आख्यान वेदोंको लेकर कुछ लोग अपने आपको 'मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकारसे अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा करके मान लेते हैं । कुध लोग सूत्रमें उद्धृत 'कत्यते' पदका कथ्यते ऐसा पाठान्तर कर पढ़ते हैं । सारगर्भित अर्थ यह है कि—पुराणरूप पञ्चवेदोंको लेकर कोई पुरुष तो पञ्चवेदीके नामसे प्रसिद्ध है । तथा अन्य लोग चतुर्वेदी हैं, दूसरे कोई द्विवेदी हैं और कोई एक वेदी भी बोले जाते हैं और कोई वेदकी एक भी ऋचाका भी अध्ययन नहीं करते हैं एवं उसे न महत्त्वकी दृष्टिसे भी देखते हैं अत एव वे

य एव स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनावस्थित: स एव ब्राह्मण इति दर्शयिष्यन् तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य तदज्ञानमूलत्वं दर्शयति—

सनत्सुजात उवाच

एकवेदस्य चाज्ञानाद् वेदास्ते बहवोऽभवन् ।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ३७ ॥

एकस्य वेदस्य—वेद्यमिदंरूपम् अनिदंरूपम्, वेदनं वेदः—एकस्याद्वितीयस्य संविद्रूपस्येत्यर्थः। तस्यैकवेदस्य ब्रह्मणोऽनवगमादृगादयो वेदा बहवोऽभवन्। अत्र ऋगादिवेदास्तत्प्रतिपत्त्यर्थं विचारं कुर्वन्तीति वेदाख्यामवापुः।

अथवा, सद्भावं साधयन्तीति वेदा:, विदन्ति वेदनसाधनभूता इति वा वेदाः। अथवा, ब्रह्माधीनमात्मानं लभन्त इति वा वेदाः। ब्रह्मण आत्मतया

अनूच कहलाते हैं। इन सभी मनुष्योंमें जो सबसे श्रेष्ठ हो उसके विषयमें कहिये, जिससे कि मैं उसे ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण जान सकूँ॥ ३५-३६॥

जो विद्वाज्जन अपने स्वभावसिद्ध सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मभावमें ही अवस्थित है, वस्तुतः वही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण कहलाता है। ऐसा उल्लेख करते हुए उससे भिन्न सबका और उसका अज्ञानमूलत्व प्रदर्शित किया जा रहा है—

हे राजेन्द्र! एक सद्रूप वेदका पूर्णतया ज्ञान न होनेसे ही अनेक प्रकारकी वेदोंकी उत्पत्ति हुई देखनेमें आती है, इसलिए कोई विवेकी पुरुष ही उस सत्यधर्ममें प्रतिष्ठित है॥ ३७॥

एक वेदकी ही दृश्यरूप और अदृश्यरूपमें वेद्यरूपता देखी जाती है; जबकि वेदन-संविद्रूप ज्ञान ही वेद कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि एक संवित्प्रकाशात्मा परमब्रह्म परमात्माका ज्ञान ही वेद है इसीसे उस एक सविद्रूप परमात्माका सम्यग्रूपसे अवबोध प्राप्त न होनेके कारण ऋग्, यजु, साम आदि वेद अनेक शाखा-प्रशाखादिके भेदका आश्रय ग्रहण कर प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत प्रकरणमें जो ऋगादि वेदोंकी मीमांसा हो रही है उनके ज्ञानके निमित्त विचार-विमर्श करते हैं। इसलिए उनकी प्रसिद्धि वेदोंके रूपमें विद्यमान है अथवा कोई अन्य भी कारण हो सकता है जैसे कि सद्वस्तुको सिद्धिमें इन वेदोंकी उपयोगिता देखी जाती है और ज्ञानकी प्राप्तिमें साक्षात् साधनरूपसे समझा भी जाता है। अतः वेदोंकी उपयोगिता सिद्ध हो जाती है अथवा

लाभहेतव इति वा वेदाः । विद विचारणे । विद सत्तायाम् । विद ज्ञाने । विद्लृ लाभे एतेषां धातूनां विषये वर्तन्ते यस्मात् ततो वेदा इत्युक्ताः ।

तदेकवेदस्वरूपं किमिति चेत्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतेः । तस्मात् सत्यस्यैकवेदस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनवगमाद् वेदा बहवो व्याख्याताः । सर्वे वेदास्तदर्थदर्शनहेतवः, हे राजेन्द्र ! त्वमपि किमेवं ज्ञात्वा सत्ये ब्रह्मणि स्थितोऽसि ? कश्चित् पुनः सत्येऽवस्थितः प्रतिष्ठित इति ॥ ३७ ॥

भूयो मे शृणु—

य एनं वेद तत् सत्यं प्राज्ञो भवति नित्यदा ।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेव प्रवर्तते ॥ ३८ ॥

किमर्थम् ? नो चेत्, तत्र यद्भवति तच्छृणु—

परमब्रह्म परमात्माके अधिष्ठित आत्मस्वरूपकी उपलब्धि होती है इसीसे भी वेद है, ब्रह्मतत्त्वको आत्मस्वरूपसे प्राप्त करनेमें कारण होनेसे भी वेद कहे जाते हैं ।

विद्, विचार अर्थमें, विद् सत्ता अर्थमें, विद् ज्ञान अर्थमें और विद्, लाभ अर्थमें धातुका प्रयोग होता है इसलिए भी वेद संज्ञा पड़ी है ।

यदि कहो कि उस वेदका स्वरूप क्या है ? 'ब्रह्मका स्वरूप सत्य, ज्ञान और अनन्त है ।' 'ब्रह्म एक अद्वितीय है ।' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे सिद्ध होता है । सत्य एक वेदस्वरूप ब्रह्मतत्त्वका अवबोध न होनेके कारण विविध प्रकारके वेदोंकी उपलब्धि देखनेमें आती है; जबकि सभी वेद अपने आत्मस्वरूपके दर्शनमें उपयोगी सिद्ध होते हैं । हे राजन् ! तुम भी उक्त प्रकारसे ब्रह्मतत्त्वके स्वरूपका भलीभाँति अवबोध प्राप्त करके सद्रूप परम ब्रह्मभावमें अवस्थित रहो ? इसलिए कि कोई विरला ही पुरुष उस तत्त्वमें स्थित रहता है ॥३७॥

अब आगे भी इस विषयमें श्रवण करो—

जो विद्वान् पुरुष इस आत्मस्वरूप ब्रह्मतत्त्वको अपरोक्षरूपसे जानता है, जबकि उसकी ज्ञान यथार्थ माना जाता है और इससे वह निरन्तर ब्रह्मभावमें भी स्थित रहता है । दान, अध्ययन और यज्ञादि कर्म तो लोभपूर्वक किये जाते हैं ॥ ३८ ॥

किसलिए ? यदि ऐसा न माना जाये तो उस स्थितिमें जो गति होती है इसके लिए सुनो—

सत्यात् प्रच्यवमानानां संकल्पा वितथाभवन् ।
ततः कर्म प्रतायेत सत्यस्यानवधारणात् ॥ ३९ ॥

सत्यात् सत्यादिलक्षणाद् ब्रह्मणः प्रच्यवमानानां स्वाभाविकब्रह्मभाव-परित्यागेन अनात्मनि देहादावात्मभावमापन्नानां संकल्पा वितथा अभवन् व्यर्था भवन्ति । स्वाभाविकसत्यसंकल्पादयो न सिध्यन्तीत्यर्थः । ततः कर्म यज्ञादिकं प्रतायेत विस्तृतं भवेत् ।

तदेतत्सर्वं सत्यादिलक्षणस्य ब्रह्मणोऽनवधारणाद् अनवगमात् । आत्मा-ज्ञानानिमित्तत्वात् संसारस्य यावत्परमात्मानमात्मत्वेन साक्षान्न विजानाति तावदयं तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणो मोमुह्यमानोऽसत्यसंकल्पः स्वर्गपश्वन्नादिहेयसाधनेषु वर्त्तत इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

इदानीं ब्राह्मणलक्षणमाह—

जो पामरलोग सत्यसे दूर हो जाते हैं उनकी तो संकल्प शक्ति ही क्षीण हो जाती है। अत एव सत्यधर्मका निश्चय न होनेसे कर्मका विस्तार किया जाता है ॥ ३९ ॥

सत्यसे अर्थात् सत्यादिरूप परमब्रह्म परमात्मासे प्रच्युत होनेवाले प्राणियोंका संकल्पबल क्षीण हो जाता है; जबकि संकल्पशक्तिहीन लोग अपने स्वभावसिद्ध ब्रह्मस्वरूपको छोड़ देनेसे देहेन्द्रियादि अनित्य-क्षणभङ्गुर वस्तुओंमें आत्मभाव कर लेते हैं और इससे इन लोगोंके संकल्प निरर्थक हो गये हैं। तात्पर्य यह है कि उन पामर प्राणियोंमें स्वाभाविक सत्य संकल्पादिकी सिद्धि नहीं हो पाती। इसी कारणको लेकर यज्ञादि कर्मका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

यह सब सत्य-ज्ञानादि लक्षणवाले परमब्रह्म परमात्माका समुचिततया अवबोध न होनेसे हुआ करता है; जबकि संसरणभाव तो अपने आत्मस्वरूपके अज्ञानको लेकर होता हुआ देखा जाता है। भावार्थ यह है कि जबतक यह प्राणी परमात्माको अपने आत्मस्वरूपसे साक्षात् जान नहीं लेता है तबतक आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक इन तापत्रयसे आक्रान्त होकर वह मकरादिको भाँति रागादि द्वन्द्वोंसे बलात् इतस्ततः खींचा हुआ, मोहके वशीभूत हुआ मिथ्या संकल्प-विकल्पोंसे बँध जाता है एवं स्वर्ग, पशु और वैषयिक हेय वस्तुओंमें रह जाता है ॥ ३९ ॥

अब ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका स्वरूप प्रदर्शित किया जाता है—

विद्याद् बहुपठन्तं तु बहुवागिति ब्राह्मणम् ।
य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ॥ ४० ॥

बहुपठन्तम् आख्यानपञ्चमवेदाध्यायिनं बहुवागिति विद्यात्, न साक्षाद् ब्राह्मणमिति कस्तर्हि मुख्यो ब्राह्मण: ? इति चेत्—य एव सत्यात् सत्यादिलक्षणान्नापैति न क्षरति स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनैवावतिष्ठते इत्यर्थ: स एव ब्राह्मणस्त्वया ज्ञेय:, नेतरो य: सत्यात् प्रच्युतोऽकृतार्थ: सन् कर्मणि प्रवर्तते । तथा च ब्रह्मविदमेव ब्राह्मणं दर्शयति श्रुति:—'मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण: स ब्राह्मण:' इति 'विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति' इति च ॥ ४० ॥

भवेदेतदेवं यदि तदेव ब्रह्म सिद्ध्येत, न च सिद्ध्यति, अन्यपरत्वाद् वेदस्येति; तत्राह—

छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र।
छन्दोविदस्तेन च तानधीत्य गता हि वेदस्य न वेद्यमार्या: ॥४१॥

बहुत पढ़नेवाले ब्राह्मणको तो तुम बड़ा वक्तामात्र ही समझो । जो सत्यधर्मसे दूर नहीं रहता है, वस्तुत: तुझे उसको ही ब्राह्मण मानना होगा ॥ ४० ॥

बहुत पढ़नेवाले व्यक्ति तो केवल प्रवक्ता ही माना जायेगा अर्थात् जिनमें इतिहास-पुराणका पञ्चम स्थान है । इस प्रकार वेदोंके अध्येतृवर्गको तुम बड़ा वाग्मी समझा—जब वह साक्षात् ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण नहीं है तो ब्राह्मण किसको माना जाय ? यदि ऐसी बात है तो सुनो—जो पुरुष सत्य -सत्यादिरूप ब्रह्मभावसे दूर नहीं रहता है अर्थात् अपने स्वभावसिद्ध सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मस्वरूपसे लेशमात्र भी पृथक् नहीं रहता है उसको तुझे ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण समझना चाहिए दूसरे व्यक्तिको नहीं । इसलिए कि वह सत्यधर्मसे दूर एवं अकृतार्थ होनेपर तो कर्ममें ही प्रवृत्त होता है । तथा भगवती श्रुतिने ब्रह्मदर्शी पुरुषको ही ब्राह्मण कहा है—जो विद्वान् मौन और अमौनसे दूर हट कर ब्रह्मभावमें प्रतिष्ठित हो गया है और जो निष्पाप, राग-शून्य एवं घृणासे पृथक् होकर रह रहा है वही ब्राह्मण है ।' यदि इसीसे उस ब्रह्मतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है तो ऐसा ही किया जायेगा, किन्तु उसकी सिद्धि कदापि संभव नहीं है, इसलिए वेदोंका तात्पर्यार्थ कर्मोंमें ही सिद्ध होता है, इसका समाधान करते हैं—

हे द्विपदां वरिष्ठ ! छन्दांसि वेदाः स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दता स्वाधीनता यथाकाममित्यर्थः तत्र परमात्मनि भवन्ति तत्रैव प्रमाणं भवन्ति। श्रूयते च— 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति च।

पुरुषार्थपर्यवसायित्वाद् वेदस्य तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्यानित्याशुचिदुःखानुविद्धत्वेन पुरुषार्थत्वाभावात् तत्स्वरूपतज्ज्ञानतत्साधनप्रतिपादकत्वेन वेदानां प्रामाण्यमित्यर्थः।

यस्माद्वेदाः स्वच्छन्दयोगेन तत्रैव परमात्मनि प्रमाणं भवति, तेन च हेतुना तान् वेदानधीत्य अधिगम्य वेदान्तश्रवणादिकं कृत्वा गताः प्राप्ता वेदस्य संविद्रूपस्य परमात्मनः स्वरूपं न वेद्यं प्रपञ्चम् आर्याः पण्डिता ब्रह्मविदः ॥ ४१ ॥

एवं तर्हि वेदवेद्यत्वे 'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि,' 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इत्यादिश्रुतिविरोधः प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह—

हे धृतराष्ट्र ! वेद तो स्वतन्त्रतया परमब्रह्म परमात्माका ही प्रतिपादन करते हैं, इससे वेदज्ञ आर्यजन उन्हींका स्वाध्याय कर तत्सम्बन्धो प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्वका अपरोक्षतया साक्षात्कार कर चुके हैं जिससे कि वे प्रपञ्चसे सर्वथा दूर हो गये हैं ॥ ४१ ॥

हे द्विजोंमें सर्वश्रेष्ठ ! जो स्वतन्त्रभावसे सम्बन्वित अपनी यथेष्ट स्वच्छन्दता-स्वाधीनता है उसका प्रतिपादनकरनेमें ही वेदोंका प्रामाण्य अभिहित है; जबकि वेद उस परमात्मामें ही प्रमाणरूप माना जाता है और इस विषयमें श्रुतिवाक्यका उल्लेख भी मिलता है—'सारी वेदराशि जिस पदका प्रतिपादन करती हैं।'

जबकि सारे वेदोंका पर्यवसान परमपुरुषार्थमें निहित रहता है उस परमात्मासे भिन्न सभी वस्तुएँ अनित्य-क्षणभङ्गुर, अपवित्र और दुःखसे मिश्रित हैं इसलिए वे परमपुरुषार्थरूप नहीं हो सकते हैं। भाव यह है कि उस परमात्माके स्वरूप, उसके ज्ञान और उसकी प्राप्तिके साधनोंका ही प्रतिपादन करनेमें वेदोंका प्रामाण्य निहित है।

जिससे कि वेद स्वतन्त्ररूपसे उस परमात्मामें ही प्रमाणरूप माने जाते हैं और इसी हेतुसे श्रेष्ठ-पण्डित अर्थात् ब्रह्मवेत्ता पुरुष उन वेदोंका स्वाध्याय कर वेदान्त-शास्त्रका सद्गुरुके उपदेश क्रमसे श्रवणादिक करते हुए उनके प्रतिपाद्य संवित्प्रकाश परमात्माका साक्षात्कार कर चुके हैं, इसीलिए वे लोग कभी भी वेद्यभावको प्राप्त नहीं होते थे ॥ ४१ ॥

ऐसी स्थितिमें तो वह विदितसे अन्य और अविदित से भी पृथक् है,

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति वेदेन वेदं न विदुर्न वेद्यम् ।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ॥४२॥

न वेदानामृगादीनां मध्ये कश्चिदपि वेदः परमात्मनो वाचामगोचरस्य संविद्रूपस्य वेदितास्ति; कस्मात् ? यस्माद् वेदेन ऋगादिरूपेण जडेन वेदं संविद्रूपं परमात्मानं न विदुः । न वेद्यम्, प्रपञ्चमपि न विदुः, संविदधीनत्वात्सर्वसिद्धेः ।

यस्मात् संविदधीना सर्वसिद्धिस्तस्माद् यो वेदं संविद्रूपं परमात्मानं वेद जानाति स च वेद वेद्यमिदं सर्वम् । तथा च श्रुतिः—'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इति । यो वेद वेद्यमिदं रूपं न स वेद न जानाति सत्यं सत्यादिलक्षणं परमात्मानम् ॥ ४२ ॥

नन्वेवं तर्हि 'वेदेन वेदं न विदुर्न वेद्यम्' इति वदता अनात्मविदः प्रपञ्चासिद्धिरेवेत्युक्तं भवतीत्याशङ्क्याह—

जिससे कि वह मन सहित वाणी अप्राप्त होकर लौट आती है ।' इत्यादि श्रुति-वाक्योंसे विरोधकी स्थिति उपस्थित हो जायेगी, इस प्रकार आशङ्का कर कहते हैं—

जो लोग वेदोंको जानते हैं वे वेद्यरूप प्रपञ्चको भी जानते हैं किन्तु उस परमात्माको नहीं जान पाते हैं और न वेदोंके विषयमें ही पूर्णतया अवगत है तो भी वे वेदज्ञ ब्राह्मण वेद द्वारा ही परमात्माका साक्षात्कार कर लेते हैं ॥४२॥

किसी भी ऋगादि वेदोंमें ऐसा कोई भी देखनेमें नहीं आता है जो वाणीके अविषयभूत संवित्प्रकाश परमात्माको पूर्णतया जाननेवाला हो। किससे ? इसलिए कि ऋगादि वेदराशि जडस्वभाववाली है इसीसे संविद्रूप चेतनधर्मा परमात्माको जानने में समर्थ नहीं है और न वेद्यरूप प्रपञ्चकी सिद्धि ज्ञानके अधीन रहती है ।

जिससे कि समस्त घट-पटादि पदार्थोंकी सिद्धि ज्ञानाधीन मानी जाती है इसीसे जो कोई विद्वान् पुरुष संविद्रूप परमात्माको जानता है, वह इस वेद्य-रूप प्रपञ्चका भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है । ऐसा ही भगवती श्रुतिका कथन है कि—अरे मैत्रयि ! आत्माके दर्शन, श्रवण, ज्ञान और विज्ञानसे यह सारा प्रपञ्च विदित हो जाता है । जो व्यक्ति वेद्यतया इस रूपको जानता है, वह सत्य-सत्यज्ञानादि लक्षणवाले परमब्रह्म परमात्माको नहीं जान पाता है ॥४२॥

अच्छा तो, यदि ऐसी बात है तो वेद द्वारा न परमात्माका ही बोध होता है और न वेद्यवस्तुका ही बोध हो पाता है ।' इस प्रकारसे कहनेवाला

यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति ॥४३॥

यो वेद जानाति ऋगोदीन् वेदान् स च वेद वेद्यं सोऽप्यनात्मविदेव भिन्नेन संवेदनेन वेद्यं प्रपञ्चं वेद। नन्वेवं चेत् तर्हि वेद्यवत् परमात्मानमपि विजानीयादित्याशङ्क्याह—न तं परमात्मानं वाचामगोचरं विदुर्वेदविदः, न वेदाः, वेदा अपि न तं विदुः, न तं विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः। कथंचिल्लक्षणया बोधयन्तीति भावः।

नन्वेवं तर्हि कथमौपनिषदं ब्रह्म स्यादित्याशङ्क्याह—'तथापि वेदेन विदन्ति वेदम्'। यद्यपि वागाद्यविषयं ब्रह्म तथापि वेदेन ऋगादिना विदन्ति

अनात्मज्ञ व्यक्तिके लिए प्रपञ्चकी असिद्धिका ही वर्णन करता है, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—

जो व्यक्ति वेदोंको अच्छी तरह जानता है वह वेद्यमात्रको भी जान लेता है; क्योंकि उस ब्रह्मतत्त्वको तो न वेद ही जानता है और न वेदज्ञ पुरुष ही जाननेमें समर्थ हैं। अतः जो ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण वेदज्ञ होते हैं वे ही वेद द्वारा परमात्माको जादते हैं॥ ४३॥

जो पुरुष ऋगादि वेदोंको सम्यग्रूपसे जानता है और वह साथ-ही -साथ वेद्यरूप प्रपञ्चको भी जान लेता है, तो भी वह व्यक्ति आत्मवेत्ता ही समझा जायेगा; क्योंकि वह सारे प्रपञ्चको भेदज्ञानपूर्वक ही जानता है यहा उससे भिन्नरूपमें जानना है। अच्छा तो, यदि इस प्रकार है तो वेद्य-वस्तुको भाँति वह परमात्माको भी अवश्यमेव जान लेगा। ऐसी आशङ्का कर उत्तर देते हैं कि वाणीके अविषयभूत उस परमात्माको वेदके ज्ञाता ही नहीं अपितु साक्षात् वेद भी जाननेमे असमर्थ होते हैं। तात्पर्य यह है कि वह परमात्मा वेदका भी विषय नहीं हो सकता है, किसी प्रकार लक्षणावृत्तिका आश्रय लेकर ज्ञानका विषय संभव हो सकता है।

अच्छा तो, इस प्रकार परमब्रह्म परमात्मा उपनिषद्का विषय कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि 'तथापि वेदेन विदन्ति वेदम्।' जबकि परमात्मा कदापि वागादि इन्द्रियोंका विषय नहीं होता है, तो भी ऋगादि वेदों के द्वारा संविद्रूप परमात्माको जाननेमें समर्थ होते हैं, उसको जाननेमें कौन व्यक्ति समर्थ है? जो ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ ब्राह्मण हैं वे ही जाननेमें समर्थ होते हैं। आशय यह है कि जिन्हें वेदशास्त्रोंकी ब्रह्मतत्त्व-सम्बन्धी प्रतिपादनकी प्रक्रिया

विजानन्ति वेदं संविद्रूपं परमात्मानम् । के ते ? ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति । वेदानां वेदप्रतिपादनप्रकारं जानन्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

कथं तर्ह्यविषयमेव ब्रह्म वेदाः प्रतिपादयन्तीत्याशङ्क्याह—

यामांशभागस्य तथा हि वेदा यथा हि शाखा च महीरुहस्य ।
संवेदने चैव यथामनन्ति तस्मिन् हि नित्ये परमात्मनोऽर्थे ॥४४॥

यामांशभागस्य, 'त्रियामश्चन्द्रः' इति श्रुतेः, चन्द्रांशभागस्य । प्रतिपच्चन्द्रकलादर्शने यथा महीरुहस्य वृक्षस्य शाखा हेतुर्भवति । तथा हि वेदास्तस्यैव परमात्मनः स्वरूपभूते संवेदने नित्येऽविनाशिन्यर्थे परमपुरुषार्थस्वरूपे पूर्णानन्दरूपे हेतवो भवन्ति । न पुनः साक्षाद्वाचामगाचरं परमात्मानं प्रतिपादयन्तीत्येवमामनन्ति ॥ ४४ ॥

य एवं वेदानां वेदरूपात्मप्रतिपादनप्रकारमवगम्य व्याचष्टे, सोऽपि ब्राह्मण इत्याह—

अभिजानामि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणम् ।
एवं योऽभिविजानाति स जानाति परं हि तत् ॥ ४५ ॥

ज्ञात है वे ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी संवित्प्रकाश परमात्माको सम्यग्रूपसे जाननेमें समर्थ भी होते हैं ॥ ४३ ॥

जब परमब्रह्म परमात्मा वागादि इन्द्रियोंका विषय नहीं बन पाता है तो फिर उसका वेद वर्णन कैसे करते हैं ? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—

जैसे वृक्षकी शाखा चन्द्रदर्शनमें हेतु होती है वैसे समस्त वेद भी उस सर्वव्यापक परमात्माके ही विषयमें विवेचन करते हैं ॥ ४४ ॥

'त्रियाम शब्द चन्द्रमाका पर्यायवाचक है ।' इस प्रकार भगवती श्रुतिके अनुसार जैसे वृक्षकी शाखा प्रतिपदाकी चद्रकलाको देखनेमें निमित्त होती है इसी प्रकार जो उस परमात्माका स्वरूपात्मक, शाश्वत, अपरिर्तनशील, परमपुरुषार्थस्वरूप, परिपूर्णबोधमय ज्ञान है उसमें वेद हेतु हाते हैं । जबकि वे वाणोके अविषयरूप परमात्माका साक्षात् प्रतिपादन नहीं करते हैं अपितु किसी लक्षणावृत्तिसे ही प्रदर्शित किया जाता है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार वेदोंका वेदस्वरूप आत्माकी प्रतिपादन प्रक्रियाका सम्यग्रूपसे ज्ञान पा करके जो विद्वान् पुरुष वर्णन करता है, वस्तुतः वही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण कहलाता है—

जो वेदोंकी व्याख्या करनेवाला है उसे ही मैं बुद्धिमान् ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण

यो वेदप्रतिपादनप्रकारं व्याचष्टे तमाख्यातारं विचक्षणं ब्राह्मणमभिजानामि। ननु बाल्यपाण्डित्यादिकं निर्विद्यावस्थितमेव ब्राह्मणं ब्रूते श्रुतिः। तथा हि 'ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासे तथा बाल्यं च पाण्डित्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिर्भवति। मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण' इति। कथमुच्यते—अभिजानामि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणमिति? तत्राह—एवं वेदानां वेदनरूपात्मप्रतिपादनप्रकारं मयोक्तं योऽभिविजानाति स जानाति परं हि तत्परं ब्रह्म जानात्येव। यो हि पाण्डित्यं निर्विद्य स्थितः स क्षिप्रं बाल्यादिकं निर्विद्य ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः॥ ४५

यस्मात्सत्यनिष्ठस्यैव ब्राह्मणत्वप्रसिद्धिस्तस्माद्विषयपरो न भवेदित्याह—

नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्रत्यर्थिषु कदाचन।
अविचिन्वन्निमं वेदे ततः पश्यति तं प्रभुम्॥ ४६॥

समझता हूँ। इस प्रकारसे जो उसे तत्त्वपूर्वक जानता है, वस्तुतः वही पुरुष ही उस परमात्माको जाननेमें समर्थ है॥ ४५॥

जो पुरुष वेदोंको प्रतिपादन प्रक्रियाको जानता है मैं उसव्याख्याताको ही पण्डित मानता हूँ, जबकि भगवती श्रुति तो बाल्य-पाण्डित्यको छोड़ कर अपने आत्मस्वरूपमें स्थित रहनेवालेको ही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण मानती है। जैसा कि ब्राह्मण अपने पाण्डित्यको छोड़ कर बाल्यभावमें स्थित हो जाय तथा बाल्यभाव और पाण्डित्यसे भी दूर होकर मुनि हो जाता है इसके बाद मौन और अमौनका भी परित्याग करके ब्रह्मभावमें प्रतिष्ठित हो जाता है। यह कैसे कहा जाता है कि मैं वेदोंके व्याख्याताको हो कुशल ब्राह्मण मानता हूँ? इसका उत्तर देते हैं-इस प्रकार मुझसे कही हुई वेदोंकी ज्ञानस्वरूप आत्माकी विवेचन प्रक्रियाको जो पुरुष जानता है, वस्तुतः वह विद्वान् पुरुष ही उस परमब्रह्म परमात्माको साक्षात् अपने आत्मरूपसे जान लेता है। आशय यह है कि जो मुमुक्षुजन पाण्डित्यका परित्याग कर अपने स्वरूपसे समाहित हो जाता है वह अविलम्ब ही बाल्यादिभावोंको छोड़ कर ब्रह्मनिष्ठ हा जाता है॥४५॥

जबकि सत्यधर्ममें उपस्थित रहनेवाले पुरुषको ही ब्राह्मणत्वकी सिद्धि हो सकती है। इसलिए वह विषयोंके आश्रित होकर कदापि न रहे, इसपर कहते हैं—

इस आत्मतत्त्वका अन्वेषण कदापि विषयोंमें न करें, क्योंकि इसका विषयोंमें अनुसंधान न करनेवाला ही वेदमें उस प्रभुका दर्शन करता है॥४६॥

'विषयाश्चेन्द्रियाण्येव देहोऽहंकार एव च। बाह्या आभ्यन्तरा घोराः शत्रवो योगिनः स्मृताः' इति दर्शनान्नस्य आत्मनः प्रत्यर्थिषु प्रतिपक्षभूतेषु देहेन्द्रियशब्दादिविषयेषु पर्येषणं परित एषणं गच्छेत् विषयान्वेषणपरो न भवेदित्यर्थः। अविचिन्वन् विषयसंचयमकुर्वन्निमं प्रत्यगात्मानं वेदे उपनिषत्सु तत्त्वमस्यादिवाक्येषु, ततः पश्चात्पश्यति तं प्रभुं परमात्मानम् आत्मत्वेन जानातीत्यर्थः।

अथवा, नास्यात्मनः पर्येषणम् अन्वेषणं गच्छेत्। प्रत्यर्थिषु प्रतिपक्ष भूतदेहेन्द्रियादिषु देहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन न गृह्णीयादित्यर्थः। अविचिन्वन्-देहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेनासंचिन्वन् तत्साक्षिणमात्मानमेव प्रतिपद्यमानस्तत्त्वं-पदार्थशोधनानन्तरमिमं प्रमात्रादिसाक्षिणं परमात्मानं पश्यति। देहेन्द्रियतद्धर्मा-नात्मत्वेनाप्रतिपद्यमानस्तत्त्वमस्यादिवाक्यैः परमात्मानमात्मत्वेन पश्यती-त्यर्थः॥ ४६॥

यस्मात्सर्वविषयपरित्यागेनैवात्मदर्शनसिद्धिः, तस्मात्—

'विषय, इन्द्रिय समुदाय, शरीर और अहङ्कार ये सब योगीके लिए बाह्य-आन्तररूपमें घोर शत्रु माने जाते हैं। इस प्रकार विचार करनेपर तो इस आत्मतत्त्वके प्रत्यर्थी-पतिपक्षभूत शरीरेन्द्रिय एवं शब्दादि विषयोंमें पर्येषण अर्थात् अन्वेषण करें। तात्पर्य यह है कि साधक पुरुषको इस आत्मतत्त्वके प्रतिपक्षभूत विषयोंके अनुसन्धान करनेमें सदैव तत्पर रहना चाहिए। विषय संचय करते हुए वेद अर्थात् उपनिषदोंमें—तत्त्वमसि महावाक्योंमें अनन्तर उस प्रभु परमात्माका आत्मभावसे साक्षात्कार कर लेता है।

अथवा इस आत्मतत्त्वका पर्येषण अन्वेषण नहीं करना चाहिए। भावार्थ यह है कि इस आत्मतत्त्वके प्रत्यर्थी-प्रतिपक्षभूत शरीर, इन्द्रियादिमें अर्थात् शरीरेन्द्रिय और उनके अनित्य धर्मोको आत्मरूपसे अनुसन्धान नहीं करनेसे अर्थात् उनका साक्षिरूपमें आत्मभावपूर्वक अनुभव करते हुए 'तत् एवं त्वम्' पदार्थ संशोधनके पश्चात् इस प्रमातादिके साक्षिरूप परमात्माका दर्शन करता है। भाव यह है कि शरीरेन्द्रिय और उनके धर्मोको आत्मभावपूर्वक न जानते हुए मुमुक्षुजन तत्त्वमसि महावाक्योंके द्वारा परमात्माका आत्मरूपसे साक्षात्कार करता है॥ ४६॥

जबकि समस्त शब्दादि विषयोंको छोड़ देनेपर ही आत्मदर्शन संभव है, इसलिए—

तूष्णींभूत उपासीत न चेच्छेन्मनसा अपि ।
अभ्यावर्त्तेत ब्रह्मास्मै बह्वनन्तरमाप्नुयात् ॥ ४७ ॥

तूष्णींभूतः सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वा स्वात्मव्यतिरिक्तं सर्वं परित्यज्य केवलो भूत्वा स्वात्मानमेव लोकमुपासीत । न चेच्छेन्मनसा अपि विषयेच्छां न कुर्यात् ।

यस्तूष्णींभूतो विषयोपसंहारं कृत्वा स्वात्मानमेव लोकमुपास्ते, अस्मै तूष्णींभूताय ब्राह्मणाय ब्रह्म अपूर्वादिलक्षणमभ्यावर्तेत-अभिमुखीभवेदित्यर्थः । श्रूयते च-'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' इति । अनन्तरमाविर्भूतस्वरूपः सन् बहु भूमानं तमसः पारं परमात्मानमाप्नुयादित्यर्थः ॥ ४७ ॥

मुनिरप्येष एवेत्याह—

मौनाद्धि मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः ।
अक्षरं तं तु यो वेद स मुनिश्रेष्ठ उच्यते ॥ ४८ ॥

समग्र कर्मोंका परित्याग कर उपासना करें और मनसे भी विषयोंका चिन्तन न करे। इसके लिए ब्रह्मका स्वरूप अभिमुख होकर प्रकट हो जाता है ॥ ४७ ॥

अन्तर्दृष्टि करता हुआ समस्त कर्मोका संन्यास करके अपने आत्मस्वरूप से व्यतिरिक्त सब कुछ छोड़ कर एकाकी होकर परमात्माकी ही निरन्तर उपासना करें और मनसे भी विषयोंका चिन्तन न करे।

जो विद्वान् पुरुष मौन धारण कर समस्त विषयोंका उपसंहार करता हुआ अपने आत्मलोककी उपासना करता है। इस समाहित चित्त हुए ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणके लिए अपूर्वादिलक्षणवाले ब्रह्म सम्मुख हो जाता है। यही आशय है। और इस विषयमें भगवती श्रुतिका प्रमाण है कि—'यह मुमुक्षुजन जिस संविद्रूप आत्माका वरण करता है उससे यह सब ज्ञात हो सकता है और उसके लिए यह आत्मा अपना स्वरूप अभिव्यक्त कर देता है।' भावार्थ यह है कि अपने स्व-स्वरूपकी अभिव्यक्ति हो जानेपर भूमा-अज्ञानतमसे अतीत परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ४७ ॥

इसीको मुनि भी कहा जायेगा, इसपर विवेचन करते हैं—

वस्तुतः मौनधारण करनेसे ही मुनि कहा जाता है। कोई अरण्यमें

मौनात्पूर्वोक्तात्तूष्णींभावादेव मुनिर्भवति न पुनररण्यवासमात्रान्मुनिर्भवति। तेषामपि तूष्णींभूतानां मध्ये यस्तु पुनरक्षरमविनाशिनं त परमात्मानं वेद 'अयमहमस्मि' इति साक्षाज्जानाति स मुनिश्रेष्ठ उच्यते। श्रूयते च—'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' इति ॥ ४८ ॥

वैयाकरणोऽप्येष एवेत्याह—

सर्वार्थानां व्याकरणाद्वैयाकरण उच्यते।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ॥ ४९ ॥

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते, न पुनः शब्दैकदेशव्याकरणाद् वैयाकरणो भवति। भवतु सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरणत्वं ततः किमिति चेत्तत्राह—तन्मूलतो व्याकरणम्। पूर्वोक्तादक्षराद्धि सर्वस्य नामरूपप्रपञ्चस्य

रहने मात्रसे ही मुनि नहीं बन जाता है। किन्तु जो पुरुष इस अक्षर-अविनाशी परमात्माको जानता है वह मुनियोंमें श्रेष्ठ कहलाता है ॥ ४८ ॥

मौन अर्थात् पूर्वोक्त सर्वकर्मसंन्यासरूप तूष्णीभावसे ही मुनि होता है फिर वह अरण्यमें निवास करनेमात्रसे ही मुनि नही बन जाता है, उन तूष्णीभावपूर्वक रहनेवालोंमें भी जो विद्वान् पुरुष उस अक्षर अविनाशी परमात्माको 'यह मैं हूँ' इस प्रकार साक्षात् आत्मभावसे जानता है। वही सर्वोत्कृष्ट मुनि कहलाता है।

इस विषयमें श्रुतिवाक्यका उल्लेख प्राप्त होता है कि इसीका साक्षात्कार कर मुनि हो जाता है ॥ ४८ ॥

यही वैयाकरण भी है, इस पर कहते हैं—

सभी प्रकारके शब्दोंके अर्थोंका विश्लेषण करनेसे ही वैयाकरण कहा जाता है। वही मूलरूपसे व्याकरण है; क्योंकि यह विद्वान् ब्रह्मका विश्लेषण करता है इसीसे वैयाकरण है ॥ ४९ ॥

सभी प्रकारके शब्दार्थोका भली प्रकार विश्लेषण करनेके कारण उसे वैयाकरणकी संज्ञा दी जाती है, फिर वह शब्दके एक अङ्गमात्रका विश्लेषण करनेसे कोई वैयाकरण नहीं बन जाता है। अत एव सब प्रकारके शब्दार्थोका विश्लेषण करनेके कारण ही उसमें वैयाकरणत्वधर्मका समावेश हो सकता है, यह सत्य है किन्तु इससे क्या हुआ? इसका समाधान यह है कि वस्तुतः वही व्याकरण है जिससे कि पूर्वोक्त अक्षर ब्रह्मसे ही सब नाम-रूपात्मक प्रपञ्चका पृथक्करण होता है और यह उपनिषदोंमें सुना भी गया है कि—'इस जीवरूपसे

व्याकरणम् । श्रूयते च - 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति । तस्माद् ब्रह्मण एव साक्षाद्वैयाकरणत्वम् । 'व्याकरोतीति तत्तथा' असावपि विद्वान् तद् ब्रह्म तथैव व्याकरोतीति वैयाकरणः ॥ ४९ ॥

सर्वज्ञोऽप्येष एवेत्याह—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः ।
सत्ये वै ब्रह्मणि तिष्ठंस्तद्विद्वान् सर्वविद्भवेत् ॥ ५० ॥

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां यः प्रत्यक्षेण भूरादीन् लोकान् पश्यति स सर्वदर्शी नरो भवेत् सर्वरूपं परमात्मानं पश्यति । असौ पुनः सत्ये सत्यादिलक्षणे ब्रह्मणि तिष्ठन्मनः समादधाति । तद्विद्वान् सत्यादिलक्षणं ब्रह्म विद्वानात्वेन जानन् सर्वविद् भवेत् सर्वं जानातीत्यर्थः । तस्मादेष एव साक्षात् सर्वज्ञो न अनात्ममात्रदर्शी ॥ ५० ॥

'यस्त्वेतेभ्यः' इत्यादिना उक्तमेवार्थं पुनरपि दर्शयति अवश्यकर्तव्यत्वप्रदर्शनार्थम्—

अनुप्रविष्ट होकर मैं इस नाम-रूपात्मक प्रपञ्चके रूपमें अभिव्यक्त हो जाऊँ ।' इसलिए परमब्रह्म परमात्माका ही साक्षात् वैयाकरणत्व सिद्ध होता है । 'व्याकरोतीति तत्तथा'—यह विद्वाज्जन भी उस अक्षर-अविनाशी ब्रह्मका इसी प्रकार प्रतिपादन करता है, इसलिए उसे वैयाकरण कहते हैं ॥ ४९ ॥

यही सर्वज्ञ भी है, इस पर कहते हैं—

लोकोंका प्रत्यक्षद्रष्टा सर्वदर्शी कहलाता है । वस्तुतः सद्रूप ब्रह्ममें अवस्थित रहता हुआ वह विद्वान् सब कुछ जाननेवाला हो जाता है ॥ ५० ॥

जो पुरुष 'भूः' आदि लोकोंका प्रत्यक्षतया द्रष्टा है वही व्यक्ति सब कुछ जाननेवाला भी हो सकता है इसलिए कि वह सर्वव्यापक परमात्माका सर्वत्र दर्शन करता है । जब फिर वह सत्य-सत्यज्ञानादि लक्षणयुक्त ब्रह्मस्वरूपमें स्थित रहता हुआ यह ज्ञानी अपने मनको अपनेमें समाहित कर लेता है, इसी स्थितिमें वह विद्वान् पुरुष सत्यादिलक्षणसे युक्त ब्रह्मको आत्मरूपसे जानता हुआ सर्वज्ञ-सब कुछ जानने-समझनेवाला हो जाता है । यही आशय है । इसलिए वही व्यक्ति साक्षात् सर्वज्ञ है, केवल अनात्मद्रष्टा सर्वज्ञ नहीं हो सकता है ॥ ५० ॥

'यस्त्वेतेभ्यः' इत्यादि सूत्रोंमें प्रतिपादित अर्थको अवश्य कर्तव्यता प्रदर्शनार्थं पुनः निरूपण किया जा रहा है—

ज्ञानादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति ।
वेदानां चारपूर्वेण चैतद्विद्वन् ब्रवीमि ते ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि
धृतराष्ट्रसनत्कुमारसंवादे श्रीसनत्सुजातीये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ज्ञानादिषु 'ज्ञानं च' (२ । १९) इत्यादिना पूर्वोक्तेषु स्थितोऽप्येवं यथा सत्ये निष्ठन् ब्रह्म पश्यति, एवमेव ब्रह्म पश्यति । वेदानां चारपूर्वेण वेदान्तश्रवणपूर्वकमित्यर्थः । अथवा गुणान्तरविधानमेतत् । ज्ञानादिषु स्थितोऽपि न केवलं तावन्मात्रेण पश्यति, अपि तु एवमेव वक्ष्यमाणप्रकारेण वेदान्तविचारपूर्वेण वेदान्तश्रवणादिपूर्वकमेव पश्यति ब्रह्म । एतद्वेदान्तानां विचार प्रकारं हे विद्वन् ! ब्रवीमि ते वक्ष्यामीत्यभिप्रायः ॥ ५१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवतः
कृतौ सनत्सुजातीयभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

हे राजन् ! इस प्रकार सत्य, ज्ञानादिमें स्थित होकर यह पुरुष वेदान्तविचारपूर्वक ब्रह्मका दर्शन कर लेता है। हे विद्वन् ! तुम्हारे प्रति यह मैं यथार्थ करता हूँ ॥ ५१ ॥

'ज्ञानं च' (२।१९) इत्यादि सूत्रांशसे प्रतिपादित ज्ञानादि साधनोंमें स्थित हुआ भी यह पुरुष ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है। भाव यह है कि वेदान्त-सम्बन्धी श्रवण-मननादि साधनोंसे युक्त हुआ यह मुमुक्षुपुरुष ब्रह्मका साक्षात्कार निश्चित ही कर लेता है अथवा यह गुणान्तरका विधान भी है। ज्ञानादिमें अवस्थित हुआ उतने अंशमात्रसे ही ब्रह्मका दर्शन कर सकता है अपितु वक्ष्माण प्रकारसे वेदान्त-विचारपूर्वक वेदान्तशास्त्र-सम्बन्धी श्रवणादि साधनपूर्वक ही ब्रह्मका दर्शन कर सकता है। हे विद्वन् ! तेरे प्रति मैं यह वेदान्तशास्त्रका विचार-विमर्श प्रस्तुत करता हूँ अर्थात् आगे चल करके मैं वेदान्त पर विवेचन करूँगा, यही भाव है ॥ ५१ ॥

इति आचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरविरचिता द्वितीयाध्याय हिन्दीव्याख्या श्रुतिरञ्जनी

तृतीयोऽध्यायः

इदानीं ब्रह्मचर्यादिसाधनानन्तरं तत्प्राप्यं च ब्रह्म प्रतिपादयितुं तृतीय-चतुर्थावध्यायावारभ्येते। तत्र तावद् ब्रह्मचर्यादिसाधनं श्रुत्वा तद् ब्रह्मवेदना-काङ्क्षी प्राह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यदिमां परार्थां ब्राह्मीं वाचं वदसि हि विश्वरूपाम्।
परां हि कार्येषु सुदुर्लभां कथां प्रब्रूहि मे वाक्यमेवं कुमार ॥ १ ॥

हे सनत्सुजात! यद् यस्मादिमां परार्थाम् उत्कृष्टार्थां ब्राह्मीं ब्रह्म-सम्बन्धिनीं वाचं वदसि हि विश्वरूपां नानारूपां पराम् उत्तमां कार्येषु कार्य-वर्गेषु प्रपञ्चेषु सुदुर्लभां श्रवणायाप्यशक्यां कथां प्रब्रूहि मे वाक्यम् एवंभूतं कुमार, यस्मात्त्वं ब्राह्मीं वाचं परमपुरुषार्थसाधनभूतां सुदुर्लभां वदसि तस्मात्त्व-मेव वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

सम्प्रति ब्रह्मचर्यादि साधनोंके निरूपणानन्तर उनसे प्राप्त किये जानेवाले ब्रह्मतत्त्वका विवेचन करनेके लिए तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायोंका आरम्भ किया जा रहा है। उसमें सर्व प्रथम ब्रह्मचर्यादि साधनोंका श्रवण करके उस परमब्रह्म परमात्माकी जाननेकी इच्छावाला होकर धृतराष्ट्रने कहा कि—

राजा धृतराष्ट्र बोले—हे सनत्सुजात! जो यह उत्कृष्ट अर्थसे युक्त विलक्षणा विश्वरूपा ब्रह्मविद्या कह रहे हों, यह निश्चित है कि उसका कार्यवर्ग-में प्राप्त करना दुर्लभ है। अतः उस कथाको मेरे प्रति कहिये। हे कुमार! ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥ १ ॥

हे सनत्सुजात! जिससे कि यह सर्वोत्कृष्ट अर्थवाली ब्राह्मी—ब्रह्म सम्बन्धिनी विश्वरूपा अर्थात् अनेक प्रकारसे विलक्षण वाणी बोल रहे हों, जिसका कार्यवर्ग-जगद्रूप प्रपञ्चमें उपलब्ध होना अत्यन्त कठिन-सा ही है इसलिए कि वह अलौकिक है जो कि वह सामान्य व्यक्तिके लिए सदा अप्राप्त ही रही है अर्थात् उसका अविषय ही रही है। इतना ही नहीं अपितु जिसका सुननेके लिए भी प्राप्त होना दुर्लभ है। इसलिए मुझ जिज्ञासुके प्रति उस कथा को कहिये। हे कुमार! ऐसी आपसे अभ्यर्थना है; जबकि आप परमपुरुषार्थके

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

सनत्सुजात उवाच

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं यन्मां पृच्छस्यभिषङ्गेण राजन् ।
बुद्धौ प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ॥२॥

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन पुरुषेण लभ्यं यद् ब्रह्म मां पृच्छस्यभिषङ्गेण राजन्। कथं तर्हि लभ्यमित्याह—बुद्धावध्यवसायात्मिकायां प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा, यदा पुनः संकल्पविकल्पात्मकं मनो विषयेभ्यः परावृत्य स्वात्मन्येव निश्चलं भवतीत्यर्थः। येयं बुद्धौ प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या सा विद्या ब्रह्मचर्येण वक्ष्यमाणेन लभ्या ॥ २ ॥

आद्यां विद्यां वदसि हि सत्यरूपां या प्राप्यते ब्रह्मचर्येण सद्भिः ।
यां प्राप्यैनं मर्त्यभावं त्यजन्ति या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ॥३॥

साधनभूत सुदुर्लभ ब्राह्मी वाणी बोल रहे हो, इसलिए आप ही इस विषयमें कहनेके छिए समर्थ हैं, यही भावार्थ है ॥ १ ॥

इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र द्वारा जिज्ञासा करनेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा कि—

सनत्सुजात बोले—हे राजन्! जिसके विषयमें तुम मुझसे आग्रहपूर्वक पूछ रहे हो, वह ब्रह्म उतावले मनसे प्राप्त होना अशक्य है और बुद्धितत्त्वमें मन-का विलीन हो जानेपर ही चिन्तनका विषय हो सकता है। इसलिए ब्रह्मविद्या तो ब्रह्मचर्यव्रतसे ही हृदयङ्गम होती है ॥ २ ॥

हे राजन्! यह ब्रह्मतत्त्व उतावलेपन करनेवाले व्यक्तिसे नहीं प्राप्त हो सकतो है, जिसके विषयमें आप मुझमें बड़ी जिज्ञासाके साथ पूछ रहे हों। तब फिर उसकी प्राप्ति कैसे संभव है? इसका उत्तर यह है कि—अध्यवसायात्मिका बुद्धिमें मनका विलीन हो जानेपर ही वह ब्रह्मविद्या प्रकृष्टरूपसे चिन्तनका विषय हो सकती है, किन्तु जब कभी संकल्प-विकल्पात्मक मन विषयोंसे निवृत्त होकर अपने आत्मस्वरूपमें निश्चल हो जाता है, तभी उसकी प्राप्त हो सकेगी। इसलिए उसकी उपलब्धि वक्ष्यमाण ब्रह्मचर्यादि साधनरूप व्रतसे ही हो सकती है, जिस ब्रह्मविद्याका बुद्धिमें मनका विलीन हो जाने पर प्रकृष्टरूपसे चिन्तन किया जाता है ॥ २ ॥

तथा—

जिस सर्वश्रेष्ठ आद्यविद्याके विषयमें जिज्ञासा कर रहे हो, वह सज्जनों

आद्यां सर्वादिभूतब्रह्मविषयां विद्यां वदसि हि सत्यरूपां परमार्थरूपां मे ब्रूहीति । यद्वा, आद्याम् अकार्यभूताम् असत्यप्रपञ्चाविषयां विद्यां वदसि तस्मादत्वरमाणेन ब्रह्मचर्यादिसाधनोपेतेन उपसंहृतान्तःकरणेनैव लभ्येत्यर्थः । या प्राप्यते ब्रह्मचर्येण सद्भिः । यां प्राप्य एतं मर्त्यभावं त्यजन्ति । या वै विद्या गुरुवृद्धेषु गुरुणा विद्याप्रदानादिना वर्द्धितेषु शिष्येषु नित्या नियता ॥ ३ ॥

एवमुक्ते ब्रह्मचर्यविज्ञानायाह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्य वेदितुमञ्जसा ।
तत्कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद्विद्वन् ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥

या विद्या ब्रह्मचर्येण वेदितुं शक्या तत्साधनभूतं ब्रह्मचर्यं विद्वन् ! ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥

द्वारा ब्रह्मचर्य व्रतसे ही प्राप्त होने योग्य है। अत एव जिसको प्राप्त कर लोग मर्त्यभावसे छूटकारा पा जाते हैं। वस्तुतः वह ब्रह्मविद्या गुरुजनोंमें सदा रहती है ॥ ३ ॥

जो सबके आदिमें होनेवाली ब्रह्मसे सम्बन्धित विद्या है, उसके विषयमें जिज्ञास कर रहे हों। उस सद्रूपा परमार्थसारभूता ब्रह्मविद्याका मुझ जिज्ञासु-व्यक्तिके प्रति उपदेश कीजिये। आद्या-अकार्यभूता अर्थात् मिथ्या प्रपञ्चभूत वस्तु से सम्बन्ध न रखनेवाली ब्रह्मविद्याके विषयमें मुझे कहिये। जबकि वह ब्रह्म-विद्या धैर्य न छोड़नेवाले, ब्रह्मचर्यादि साधनसम्पन्न शान्तचित्तवाले व्यक्तिको ही प्राप्त होती है। जिसका साक्षात्कार करके मनुष्य जन्म-मृत्युसे छूटकारा पा लेता है और जो ब्रह्मविद्या सदा गुरुजनों द्वारा विद्या दानादिसे अभिवृद्धिको प्राप्त हुए शिष्यवर्गमें प्रकाशित होती है ॥ ३ ॥

इस प्रकार कहे जानेपर धृतराष्ट्र ब्रह्मचर्य विज्ञानके लिए कहते हैं—

धृतराष्ट्र बोले—हे विद्वन् ! जिस ब्रह्मविद्याका भलीप्रकार अवबोध ब्रह्मचर्यादि साधन व्रतपूर्वक ही प्राप्त होता है, वह साधनरूप ब्रह्मचर्यव्रत क्या है ? यह मेरे प्रति कहिये ॥ ४ ॥

जिस ब्रह्मविद्याका बोध ब्रह्मचर्यादि व्रत द्वारा ही संभव है। इसलिए उसकी प्राप्तिके साधनभूत ब्रह्मचर्य व्रतका क्या स्वरूप है ? हे विद्वन् । मेरे प्रति आप उस ब्रह्मचर्यव्रतका विवेचन कीजिये ॥ ४ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—

सनत्सुजात उवाच

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति विहाय देहं परमं यान्ति सत्यम् ॥५॥

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य आचार्यसमीपं गत्वेत्यर्थः भूत्वा गर्भम् उपसदनादिना शिष्या भूत्वा ब्रह्मचर्यं गुरुशुश्रूषादिकं चरन्ति कुर्वन्ति, इहैवास्मिन् लोके ते शास्त्रकाराः शास्त्रकर्तारः पण्डिता भवन्ति । ततो बाल्यादिकं निर्विद्य ब्राह्मण भूत्वा आरब्धकर्मक्षये विहाय देहं परमं यान्ति सत्यं सत्यादिलक्षणं परमात्मानं प्राप्नुवन्ति ॥ ५ ॥

किंच—

अस्मिँल्लोके विजयन्तीह कामान् ब्राह्मीं स्थितिमनुतितिक्षमाणाः ।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहान्मुञ्जादिषीकामिव धीरभावात् ॥६॥

अस्मिँल्लोके विजयन्तीह कामान् ब्राह्मीमेव स्थितिं ब्रह्मण्येव स्थितिम्

इस प्रकार धृतराष्ट्र द्वारा जिज्ञासा करनेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा कि--

सनत्सुजात बोले—जो विवेकी पुरुष आचार्यके निकट रहते हुए ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण करते हैं, यहाँपर वे शास्त्रके ज्ञाता हो जाते हैं और शरीरके छोड़नेके पश्चात् अपने स्वरूपभूत परमात्माको पा लेते हैं ॥ ५ ॥

जो तत्त्वजिज्ञासु पुरुष इस लोकमें आचार्ययोनिमें प्रवेश कर अर्थात् आचार्यके समीप जाकर उपसत्ति आदिपूर्वक उनके शिष्य होकर ब्रह्मचर्य व्रतका आचरण करते हुए गुरुशुश्रूषादि धर्ममें सदा निरत रहते हैं वे इसी लोकमें शास्त्रकार-शास्त्रकर्ता अर्थात् समस्त वेदशास्त्रोंके सारगर्भित अर्थको जाननेवाले पण्डित हो जाते हैं और उसके पश्चात् बाल्यकालसे ही वैराग्यभावमें अवस्थित हुए ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण प्रारब्धकर्म क्षय होनेपर शरीरका परित्याग कर परम-सत्य अर्थात् सत्य—ज्ञानादिरूप परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ५ ॥

इस लोकमें ब्राह्मी स्थितिमें रहनेवाले ज्ञानी लोग सुख-दुःखादिरूप द्वन्द्वोंको सहते हुए धैर्यपूर्वक मूँजसे सींककी भाँति शरीरसे आत्माको पृथक् कर लेते हैं ॥ ६ ॥

जो जिज्ञासुजन इच्छाओंको विवेकपूर्वक शान्त कर उन सबके पर विजय

अनुतितिक्षमाणा अनुदिनं क्षममाणास्ते आत्मनं देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं चिन्मात्रं निर्हरन्ति पृथक् कुर्वन्ति। किमिव? मुञ्जादिषीकामिव। यथा मुञ्जादिषीकामन्तःस्थां निर्हरन्ति, एवं कोशपञ्चकेभ्यो निष्कृष्य सर्वात्मानं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। केन? धीरभावाद् धैर्येण। श्रूयते च कठवल्लीषु—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रबृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम्॥
इति॥ ६॥

'आचार्ययोनिमिह' इत्यत्र आचार्यस्य योनित्वं दर्शितम्। तत्कथं माता-पितृव्यतिरेकेण आचार्यस्य योनित्वमित्याशङ्क्य स एव साक्षाज्जनयितेत्याह—

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत।
आचार्यतस्तु यज्जन्म तत्सत्यं वै तथामृतम्॥ ७॥

पा लेते हैं वे ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली स्थितिमें अवस्थित होकर ब्रह्मभावमें ही सुखका अनुभव करते हुए शीत-ऊष्णादिरूप द्वन्द्वोंको धैर्यपूर्वक सहन करते हैं तथा देहेन्द्रिय बुद्धि आदि अनित्य क्षणभङ्गुर वस्तुओंसे अपने आपको विवेक द्वारा पृथक् कर उन सबके साक्षिरूप आत्मामें ही समाहित हो जाते हैं। किसकी भाँति पृथक् कर लेते हैं? मूँजसे तृणके समान। भावार्थ यह है कि जैसे मूँजके भीतर स्थित सींक नामक वस्तुको युक्तिपूर्वक पृथक् कर निकाल लिया जाता है वैसे अन्नादिरूप पञ्चकोशोंसे पृथक् कर आत्मस्वरूपको जान लिया जाता है। यह कैसे निकाल लिया जाता है? विवेकी पुरुष धैर्यधारण कर बड़ी युक्तिके साथ उससे अलग हो जाते हैं। और यह कठोपनिषद्में सुना भी गया है कि—

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जो अन्तर्यामी है और सभी प्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं। मूँजसे सींककी भाँति उसे धैर्यके साथ शरीरसे पृथक् करे, उसे शुद्ध और अमृतरूप समझे॥ ६॥

'आचार्ययोनिमिह' इस सूत्रमें आचार्य ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें मूलकारण है यह दिखलाया गया है। माता-पितासे भिन्न आचार्यका योनित्व कैसे सिद्ध होता है? ऐसी आशङ्का कर उत्तरमें कहते हैं कि वह आचार्य ही साक्षात् जन्म देनेवाला है—

हे भारत! ये माता और पिता शरीरकी उत्पत्तिमें कारण हैं, परन्तु जो आचार्यसे जन्म होता है, परमार्थतः वही सत्य एवं अमृतमय है॥ ७॥

शरीरमिहास्य तौ मातापितरौ कुरुतः, नात्मानं स्वरूपेण जनयतः। यदिदं देहद्वयात्मना जन्म तदसत्यम्, आचार्यतस्तु यदिदं चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना जन्म तत्सत्यं परमार्थभूतम्। तथैवामृतं विनाशवर्जितम्। तस्मात्स एव जनयितेत्यर्थः। श्रूयते च प्रश्नोपनिषदि—'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' इति। तथा चाहापस्तम्बः—'स हि विद्यातस्तं जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म शरीरमेव मातापितरौ जनयतः' इति ॥ ७ ॥

यस्मादाचार्याधीना परमपुरुषार्थसिद्धिस्तस्मात्—

स आवृणोत्यमृतं सम्प्रयच्छंस्तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन्।
गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत स्वाध्यायमिच्छेच्च सदाप्रमत्तः ॥८॥

स आवृणोति आपूरयति अमृतं पूर्णानन्दं ब्रह्म आत्मत्वेन सम्प्रयच्छन्, तस्मै आचार्याय न द्रुह्येद् द्रोहं नाचरेत्। तथा च श्रुति :—

इस संसारमें इस पञ्चभौतिक शरीरकी उत्पत्तिमें माता और पिता हेतु माने जाते हैं, वे आत्माको स्वरूपतः जन्म नहीं देते हैं; जबकि इस पञ्चभौतिक शरीरका स्थूल-सूक्ष्मके रूपसे उत्पन्न होना तो असत्य ही माना गया है। परन्तु जो यह आचार्य द्वारा सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूपसे जन्म ग्रहण करना है वस्तुतः वही परमार्थरूप पारमार्थिक सत्य है और अमृत-उत्पत्तिविनाशसे रहित है। इसलिए वह आचार्य ही साक्षात् जन्म देनेवाला है। इस विषयमें प्रश्नोपनिषद्में सुना भी जाता है—इसलिए कि आप ही हमारे पिता हैं जो हमलोगोंको अविद्यात्मक मायासे पार कर दिया है। ऐसा ही आपस्तम्ब महर्षिका भी कथन है कि—वह आचार्य ब्रह्मविद्या द्वारा ही उसे जन्म देता है, इसलिये यही इसका सर्वोत्कृष्ट जन्म माना जाता है। माता एवं पिता तो केवल शरीरको ही जन्म दे कर रह जाते हैं ॥७॥

जबकि परमपुरुषार्थकी सिद्धि तो आचार्यके अधीन समझी जाती है, इसलिये—

वह सद्गुरु अमृतका दान कर उस शिष्यको ज्ञानसे परिपूर्ण कर देता है। इसलिये उस सद्गुरु द्वारा किये हुए उपकारको जानता हुआ उसके प्रति कदापि द्वेषभाव न उत्पन्न करें और नित्य अभिवादन करें तथा प्रमादको छोड़ करके स्वाध्यायमें अभिरत रहें ॥८॥

अमृतस्वरूप परिपूर्णानन्द परम ब्रह्मको आत्मरूपसे प्रदान करता हुआ वह चारों ओर आप्लावित कर देता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष उस आचार्य

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देये तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ इति ॥

तथा चापस्तम्बः--'तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन। स हि विद्यायस्तं जनयति' इति। कृतमस्य जानन्, अस्येति तृतीयार्थे षष्ठी। अनेनात्मनः कृतमुपकारं जानन्।

किं तर्हि कर्त्तव्यमित्याह--गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत, देवमिवाचार्यमुपासीत। तथा च श्रुतिः—'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इति। तथा स्वाध्यायमिच्छेच्च श्रवणादिपरो भवेत्। सदा प्रमत्तोऽप्रमादी सन् ॥ ८ ॥

इदानीं चतुष्पादब्रह्मचर्यं श्लोकचतुष्टयेनाह—

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ९ ॥

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव। 'आचार्ययोनिमिह' इत्यादिनोक्तक्रमेण शुचिर्विद्यामाप्नोति यत्, तद् ब्रह्मचर्यं तस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ९ ॥

के प्रति कभी भी द्रोह भावसे आचरण न करें। ऐसा ही भगवती श्रुतिका कथन है कि–जिसकी देवमें परमभक्ति है और जैसे देवमें है वैसी गुरुमें भी भक्ति है उस महान् पुरुषको गूढार्थोंका अवबोध हृदयमें प्रकाशित हो जाता है।' तथा यही आपस्तम्ब महर्षि द्वारा भी कहा गया है कि

आचार्यसे कभी भी द्रोह न करें, इसलिये कि वही ब्रह्मविद्यासे उसे जन्म देता है। श्लोकमें उद्धृत 'कृतमस्य जानन्' इस अंशमें तृतीयाके अर्थमें षष्ठीविभक्तिका प्रयोग किया गया है। इसके द्वारा किये हुए उपकारको जानता हुआ शिष्य उससे द्रोह न करे।

ऐसी स्थितिमें तो फिर क्या किया जाय? शिष्य नित्य ही श्रद्धाभक्तिपूर्वक सद्गुरुका अभिवादन करता रहे, वह देवताके समान उसकी उपासना करें। ऐसा ही श्रुतिवाक्यका कथन है—'जिसकी देवतामें सर्वोत्कृष्टभक्ति है जैसी देवतामें है वैसी सद्गुरुमें भी है।' एवं सदा स्वाध्यायकी इच्छा करे और अप्रमत्त-प्रमाद-आलस्यको छोड़ करके श्रवणादि साधनमें तत्पर रहे ॥८॥

अब चार श्लोकोंके द्वारा चतुष्पाद ब्रह्मचर्यका वर्णन किया जाता है--

जो व्यक्ति शिष्यवृत्तिपूर्वक पवित्र होकर विद्या ग्रहण करता है। इसके लिए यह ब्रह्मचर्यव्रतका प्रथमपद कहा जाता है ॥९॥

जो बुद्धिमान् पुरुष शिष्यवृत्ति-शिष्यके धर्मानुसार विद्या प्राप्त करता

यथा नित्यं गुरौ वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत् ।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १० ॥

स्पष्टार्थः श्लोकः । तथा चोक्तम्--'आचार्यवदाचार्यदारेषु वृत्तिः', 'आचार्यवदाचार्यपुत्रे वृत्तिश्च' इति ॥ १० ॥

आचार्येणात्मकृतं विजानन् ज्ञात्वा चार्थं भवितोऽस्मीत्यनेन ।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥११॥

आचार्येणात्मकृतम् आत्मनः कृतमुपकारं विजानन् ज्ञात्वा अर्थं वेदार्थं परमपुरुषार्थं ज्ञात्वा च अवगम्य भावितोऽस्मीत्यनेन स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना यथावदुत्पादितोऽस्मीति चिन्तयन् तमाचार्यं प्रति हृष्टबुद्धिः सन् यद् आत्मनः कृतार्थत्वं मन्यते स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ ११ ॥

है । 'आचार्ययोनिमिह' इस सूत्रमें जिसका वर्णन किया हुआ है, इसके अनुसार पवित्रभावपूर्वक जो व्यक्ति ब्रह्मविद्याको ग्रहण करता है, उसका यह ब्रह्मचर्य व्रत प्रथमपादसे कहा जाता है ॥९॥

जैसे गुरुके साथ व्यवहार करता है वैसे गुरुकी धर्मपत्नीके साथ भी आचरण करे तथा उनके पुत्रोंके साथ भी मधुर व्यवहार करे, यह ब्रह्मचर्यव्रतका द्वितीयपाद कहलाता है ॥१०॥

श्लोकका अर्थ स्पष्ट ही है और ऐसा कहा गया है कि जैसा आचार्यके साथ सदाचारपूर्वक व्यवहार करता है वैसा ही व्यवहार आचार्यकी धर्मपत्नीके साथ भी करे तथा आचार्यके पुत्र-परिवारवालोंके साथ भी मधुर व्यवहार करना चाहिए ॥१०॥

आचार्य द्वारा किये हुए उपकारको जानता हुआ परमतत्त्वका अवबोध प्राप्त कर, मैं इससे कृतार्थ हो चुका हूँ, ऐसा जो सद्गुरुके प्रति प्रसन्न चित्त हुआ मानता है, वह ब्रह्मचर्यव्रतका तृतीयपाद है ॥११॥

आचार्य द्वारा किये हुए अपने उपकारको न विस्मृत करता हुआ, अर्थ-वेदार्थरूप परमपुरुपार्थको भलीभाँति जानता हुआ यह विवेकी जन ऐसा विचार करता है कि वस्तुतः मेरा जन्म सद्गुरुके द्वारा ही हुआ है अर्थात् अपने स्व-स्वरूपभूत सच्चिदानन्द परमात्मासे मुझे यथावत् उत्पन्न किया है, उस आचार्य-पुरुषके प्रति सद्भावनापूर्वक प्रसन्न हृदय होकर जो अपनी कृतार्थका आकलन करता है, वस्तुतः वही ब्रह्मचर्यव्रतका तृतीयपाद कहलाता है ॥११॥

आचार्याय प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि ।
कर्मणा मनसा वाचा चतुर्थः पाद उच्यते ॥ १२ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १२ ॥

इदानीं चतुष्पदीं विद्यां दर्शयति--

कालेन पादं लभते तथार्यं तथैव पादं गुरुयोगतश्च ।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छेच्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति॥१३॥

अत्र क्रमो न विवक्षितः । प्रथमं गुरुयोगतः, तत उत्साहयोगेन बुद्धिविशेषप्रादुर्भावेन, ततः कालेन बुद्धिपरिपाकेण, ततः शास्त्रेण सहाध्यायिभिस्तत्त्वविचारेण । तथा चोक्तम्—'आचार्यात्पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया । कालेन पादमादत्ते पादं सब्रह्मचारिभिः' इति ॥ १३ ॥

ज्ञानादीनामाचार्यसंनिधाने फलसिद्धिरित्याह—

ज्ञानादयो द्वादश यस्य रूपमन्यानि चाङ्गानि तथा बलं च ।
आचार्ययोगे फलतीति चाहुर्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ॥१४॥

इसका अर्थ सरल है ॥१२॥

सम्प्रति चतुष्पदी विद्याका वर्णन करते हैं—यह शिष्य कालक्रमसे ब्रह्मविद्याका एक पाद पा लेता है और द्वितीयपाद सद्गुरुको सन्निधिसे प्राप्त कर लेता है एवं अपने उत्साह बलसे तृतीयपादको पा लेता है तथा चतुर्थपाद शास्त्र से प्राप्त हो जाता है ॥१३॥

प्रस्तुत प्रकरणमें पादोंका प्रदर्शित करना विषय नहीं है। यह तत्त्वजिज्ञासु शिष्य ब्रह्मविद्याका प्रथमपाद सद्गुरुके सम्बन्धसे प्राप्त करता है। इसके पश्चात् उत्साहयोगपूर्वक बुद्धिका विशेष वैभव उदय होने पर कालक्रमशः उसकी परिपक्वदशामें तथा स्वाध्याय करनेवाले अपने सतीर्थ्योंके साथ शास्त्रसम्बन्धी विचार-विमर्श करनेसे प्राप्ति हो जाती है। इस विषयमें कहा गया है कि—तत्त्वजिज्ञासु पुरुष एकपाद आचार्यको सन्निधिसे प्राप्त कर लेता है, एक अपनी मेधाशक्तिसे, एक कालक्रमसे और एक अपने साथ स्वाध्याय करनेवाले ब्रह्मचारियोंके द्वारा प्राप्त कर लेता है।

आचार्य पुरुषके सान्निध्यमें ही ज्ञानादि साधनोंकी फलसिद्धि होती है, इस पर कहते हैं—

ज्ञानादि द्वादशगुण जिसके रूप हो गये हैं तथा उसके दूसरे अङ्ग हैं और

ज्ञानादयः 'ज्ञानं च' इत्यादिना पूर्वोक्ता द्वादश गुणा यस्य पुरुषस्य रूपम्, अन्यानि चाङ्गानि 'श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः', 'सत्यं ध्यानम्' इति श्लोकद्वयेन चोक्तानि। तथा बलं च तद्धर्मपरिपालनसामर्थ्यं च सर्वमाचार्ययोगे एव फलति, नाचार्ययोगं विना फलति। श्रूयते च 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता' इति, 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति च। ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यं यदिदं गुरुसंनिधौ शुश्रूषाद्याचरणं तद् ब्रह्मचर्यं ब्रह्मार्थयोगेन फलति, स्वात्मनश्चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मैकत्वसम्पादनद्वारेण फलतीत्यर्थः॥ १४॥

ब्रह्मचर्यस्तुतिं करोति द्वाभ्याम्—

एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन्।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मचर्येण चाभवन्॥ १५॥
एतेनैव सगन्धर्वा रूपमप्सरसोऽजयन्।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्य अह्नाय जायते॥ १६॥

बल ये सब आचार्यकी सन्निधिमात्रसे ही फल देते हैं एवं ब्रह्मस्वरूपमें स्थिति होने पर ही ब्रह्मचर्य साधनकी सफलता मानी जाती है॥१४॥

'ज्ञानं च' इत्यादि सूत्रमें प्रतिपादित ज्ञानादि द्वादशगुण जिस व्यक्तिके रूप हो जाते हैं और 'श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः', 'सत्यं ध्यानम्।' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा विवेचित दूसरे गुण जिसके अङ्ग हैं और उसका जो बल अर्थात् अपने धर्मका पालन करनेका सामर्थ्य है। वे सबके सब आचार्यकी सन्निधिमात्रसे ही प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि आचार्यकी सन्निधिके बिना उनकी सफलता नहीं होती है। ऐसा सुना भी जाता है कि--आचार्य द्वारा ही विद्यासम्बन्धी तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जाता है और आचार्यवान् पुरुषको ही तत्त्वज्ञान मिलता है। ब्रह्मार्थयोगेन च अर्थात् ब्रह्मस्वरूपमें स्थिति होने पर ही ब्रह्मचर्यसाधनकी सिद्धि संभव है। जो यह सद्गुरुके निकट रह करके सेवासम्बन्धी आचरण किया जाता है उसकी सिद्धि तो ब्रह्माकारवृत्ति होने पर ही सम्भव है। आशय यह है कि अपने आत्मस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे तादात्म्यभाव प्राप्त कर लेने पर ही ब्रह्मचर्यव्रतकी सफलता है॥१४॥

अब ब्रह्मचर्यव्रतका महत्त्व दो श्लोकोंसे दिखलाते हैं—

देवताओंने ब्रह्मचर्य द्वारा ही देवत्व प्राप्त किया है। महान् वीर्यसम्पन्न महर्षियोंने भी ब्रह्मचर्य द्वारा ही उस परमपदको प्राप्त किया था और इसीसे

देवा देवत्वमेतेन प्राप्नुवन् । ऋषयोऽपीह ऋषित्वमेतेन प्राप्ताः । सगन्धर्वा गन्धर्वैः सह वर्तमाना रूपमप्सरसोऽजयन्, रूपाणि रमणीयानि एतेन ब्रह्मचर्येण अजयन् । अह्नो दीप्तिसमूहः, अह्नाय जगतां द्योतनाय सूर्यश्च जायते । उक्तं च –'अह्नो दीप्तिश्च कथ्यते' इति ॥ १५–१६ ॥

कथमेकस्य ब्रह्मचर्यस्यानेकविधफलसाधकत्वमित्यत आह –

आकाङ्क्षार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थिनामिव ।
एवं ह्येतत् समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥१७॥

यथा चिन्तामण्यादयो रसभेदार्थिनाम् आकाङ्क्षार्थस्य संयोगात् तत्तदाकाङ्क्षितमर्थं प्रयच्छन्ति, एवमेवैतद् ब्रह्मचर्यमाकाङ्क्षार्थस्य संयोगात् तत्तदाकाङ्क्षितमर्थं प्रयच्छतीति ज्ञात्वा तत्तत्फलार्थं ब्रह्मचर्यं चरित्वा तादृग्भावं तादृशं भावं गता इमे देवादयः । यस्मादाचार्यसंनिध्यनुष्ठिताद् ब्रह्मचर्यात् परमपुरुषार्थप्राप्तिस्तस्मादाचार्ययोनिं प्रविश्य गर्भो भूत्वा ब्रह्मचर्यं चरेदित्यर्थः ॥१७॥

गन्धर्वोंके सहित अप्सराओंने सौंदर्य प्राप्त किया था तथा इसके बलसे सूर्य सभी जडचेतन वस्तुओंको प्रकाशित करता है ॥१५-१६॥

देवताओंने ब्रह्मचर्य द्वारा ही देवत्व प्राप्त किया था, यहाँ पर महान् वीर्यवान् ऋषियोंने भी ब्रह्मचर्य द्वारा ही ऋषित्व पद प्राप्त किया था। इसी ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा गन्धर्वोंके सहित अप्सराओंने अतीव मनोहर स्वरूपको प्राप्त किया था तथा 'अह्न' दीप्तिसमूहका नाम है इसके बलसे ही सूर्य जगत्के प्रकाशनका कारण होता है और भी अह्न दीप्तिको कहते है, यह कहा भी गया है ॥१५–१६॥

एक ही ब्रह्मचर्यसाधन अनेक प्रकारकी फलसिद्धिका हेतु कैसे बन जाता है ? इस पर कहते हैं–

विभिन्न रसोंको इच्छा रखनेवालेकी भाँति अभिलषित वस्तुसामग्रीके संयोग होने पर व्रतसे भली-भाँति अवगत होकर ये देवलोग उस भावमें स्थिर हुए हैं ॥१७॥

जैसे चिन्तामणि आदि अनेकविध रसज्ञोंको अपने अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति करा देते हैं। इसी प्रकार यह ब्रह्मचर्यव्रत भी अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति द्वारा उस वाञ्छित वस्तुको प्रदान कर देता है। ऐसा समझ कर ये देवादि उस उस फलकी अर्थ सिद्धिके हेतु ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण करते हुए तद्रूप होकर स्थित हो जाते हैं। जबकि आचार्यकी सन्निधिमें किया हुआ ब्रह्मचर्यरूप अनुष्ठान

नन्वेवं ज्ञाननिष्ठता यदि ज्ञानस्यैव पुरुषार्थत्वं भवेत्; अपितु कर्मण एवेत्याशङ्क्याह—

अन्तवन्तः क्षत्रिय ते जयन्ति लोकाञ्जनाः कर्मणा निर्मितेन।
ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्यं न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः ॥१८॥

हे क्षत्रिय ! अन्तवन्तः—अन्तवतो लोकान् पितृलोकदेवलोकादीन् ते जयन्ति प्राप्नुवन्ति नानन्तं स्वात्मभूतं परमात्मानं लोकं जयन्ति। केन तर्ह्यनन्तलोकप्राप्तिरित्याशङ्क्याह—ज्ञानेन विद्वान् तेज अभ्येति नित्यमिति। नित्यमविनाश्यात्मभूतमेवाभ्येति तेजो ज्योतिर्न कर्मणा।

कस्मात् पुनर्ज्ञानिनैवाभ्येति ? तत्राह—न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः।

परमपुरुषार्थकी सिद्धि देता है। अत एव भावार्थ यह है कि आचार्यकी सन्निधिको पा कर, उसका शिष्यत्व स्वीकार कर श्रद्धाभक्तिपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण करे ॥१७॥

अच्छा तो, यह ज्ञाननिष्ठा उसी स्थितिमें संभव होती, जब ज्ञान परमपुरुषार्थके रूपमें होता, परन्तु यहाँ पुरुषार्थका हेतु कोई कर्म तो देखनेमें नहीं आता है। ऐसी आशङ्का कर उत्तरमें यह कहा जाता है कि—

हे राजन् ! वे कर्मी लोग कर्म द्वारा नश्वरलोकको ही प्राप्त करते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष ज्ञानके द्वारा अनश्वर-प्रकाशको प्राप्त कर लेते हैं, इसके अतिरिक्त उसकी प्राप्तिका कोई दूसरा मार्ग भी नहीं दिखता है ॥१८॥

हे राजेन्द्र ! वे कर्मकाण्डी कर्म द्वारा संपादित पितृलोक, देवलोकादिको प्राप्त होते हैं इसलिये ये लोग विनाश रहित अपने आत्मस्वरूप परमात्मसम्बन्धी लोकको प्राप्ति नहीं कर सकते हैं। ऐसी स्थितिमें उन्हें अनश्वर-अविनाशी लोककी प्राप्ति हो सकेगी ? इस पर कहते हैं कि—विद्वान् पुरुष तत्त्वज्ञान द्वारा ही सदा संवित्प्रकाशस्वरूपकी प्राप्ति कर सकते हैं। नित्य—अविनाशी अपने स्वरूपभूत तेज—ज्योतिको ज्ञानपूर्वक ही पाया जाता है। कर्मसे अक्षयलोककी प्राप्ति कदापि संभव नहीं है।

तब फिर ज्ञान द्वारा उसे कैसे प्राप्त करता है ? इसका समाधान यही है कि उस ज्योतिरूप लोककी प्राप्तिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है; क्योंकि परिपूर्णानन्दमय ज्ञानको छोड़ कर उसके लिये दूसरा कोई मार्ग देखनेमें नहीं आता है। और इस विषयमें उपनिषदोंमें भी सुना गया है कि—उस ज्योतिर्मय आत्म-

तस्य पूर्णानन्दज्योतिषो ज्ञानमेकं मुक्त्वान्यः पन्था मार्गो नास्त्येव। श्रूयते च—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति ॥ १८ ॥

ज्ञानेन विद्वान् यद् ब्रह्म पश्यति, तत्किमिवाभातीति पृच्छति धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमथार्जुनं काद्रवं वा।
यद् ब्राह्मणः पश्यति यत्र विद्वान् कथंरूपं तदमृतमक्षरं परम् ॥१९॥

ज्ञानेन यद्विद्वान् पश्यति ब्रह्म, तत्किं शुक्लमिव आभाति, लोहितमिव आभाति, कृष्णमिव अर्जुनं काद्रवमिव आभाति। यत्र देशे भाति कथंरूपं तदमृतमक्षरं परं ब्रह्म ॥ १९ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

सनत्सुजात उवाच

नाभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमथार्जुनं काद्रवं वा।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे नैतत्समुद्रे सलिलं बिभर्ति ॥२०॥

स्वरूपका साक्षात्कार करके तत्त्वदर्शी मृत्युका भी अतिक्रमण कर जाता है अत एव मोक्षधर्मकी प्राप्तिका इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है ॥१८॥

विद्वान् पुरुष तत्त्वज्ञान द्वारा जिस ब्रह्मका दर्शन करता है, वह किस की भाँति अवगत होता है ? ऐसी राजा धृतराष्ट्र द्वारा जिज्ञासाकी जाती है—धृतराष्ट्र बोले—ज्ञानी पुरुष जहाँ ब्रह्मका बोध प्राप्त करता है, वहाँ पर उसे ब्रह्मका स्वरूप शुक्ल, लोहित, श्याम, शुभ्र या धूम्रवर्ण-सा आभासित होता है। वह अमृतमय अक्षर ब्रह्म जिस देशमें दृष्टिगत होता है वह कैसे रूपवाला प्रतीत होता है ? ॥१९॥

विद्वान् पुरुष अपने विशुद्ध चित्तमें तत्त्वज्ञान द्वारा जिस परम ब्रह्म परमात्माका अभेददृष्टिसे दर्शन करता है, तो क्या वह शुक्लवर्ण-सा आभासित होता है ? अथवा लालवर्णके समान प्रतीत होता है ? या कृष्णवर्ण, शुभ्रवर्ण अथवा धूम्रवर्ण-सा दृष्टिगोचर होता है ? वह अमृतमय अक्षर-अविनाशी परमात्मा जिस प्रदेशमें आभासित होता है, उसका कैसा स्वरूपाकार प्रतीत होता है ? ॥१९॥

इस प्रकार धृतराष्ट्र द्वारा जिज्ञासा करने पर भगवान् श्री सनत्सुजात ने कहा कि—

नैतद् ब्रह्म शुक्लादिरूपत्वेनावभासते, अरूपत्वाद् ब्रह्मणः। श्रूयते च—'ततो यदुत्तरतरं तद्रूपमनामयम्' इति। 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इति च। तथा न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे। तथा च श्रुतिरन्यत्रानवस्थानं दर्शयति—'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति।'

कस्मात्पुनः कारणात् पृथिव्यादिषु न तिष्ठति? तत्राह—नैतत्समुद्रे सलिलं पञ्चभूतात्मकं देहं बिभर्ति। सलिलशब्दो भूतपञ्चकोपलक्षणार्थः। यथा 'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्' इत्यत्रापि अप्शब्दो भूतपञ्चकोपलक्षणार्थः। श्रूयते च पञ्चाग्निविद्यायाम् 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति अपामेव पुरुषशब्दवाच्यत्वम्।

एतदुक्तं भवति—यदि ब्रह्मणः संसारान्तर्वर्त्तित्वं भवेत् तदा संसारानु-

श्रीसनत्सुजात बोले—यह अविनाशी ब्रह्म न शुक्ल ही है और न लोहित, श्याम, श्वेत अथवा धूम्रवर्ण-सा ही प्रतीत होता है एवं यह न पृथिवीमें रहता है और न अन्तरिक्षमें ही स्थित है तथा न तो सागरमें ही जलको धारण कर रहता है ॥२०॥

यह अक्षर-अविनाशी ब्रह्म शुक्ल, लोहितादिवर्णके रूपमें प्रतीत नहीं होता है; क्योंकि परम ब्रह्म परमात्माका स्वरूप बाह्य शुक्लादि रूपसे शून्य ही रहता है। और यह उपनिषदोंमें भी सुना जाता है कि—इससे जो अनुत्तर है वह नाम एवं रूपसे भिन्न ही है और इस प्रकार शब्द रहित, स्पर्श रहित और रूप रहित अव्यय अर्थात् अविनाशी है।' तथा वह न तो पृथिवीमें ही रहता है और न अन्तरिक्षमें ही है। तथा भगवती श्रुति अन्यत्र भी अनवस्थिति दिखलाती है कि—हे भगवन्। वह परमतत्त्व किसमें प्रतिष्ठित है और किस प्रकार अपनी महिमामें स्थित है।

तो फिर वह पृथिवी आदिमें किस हेतुसे नहीं रहता है? इसके समधान-में कहते हैं कि—वह समुद्रमें भी सलिल-आकाशादि पञ्चभूतात्मक शरीरको धारण नहीं करता है। श्लोकमें उद्धृत सलिल शब्द आकाशादि पञ्चभूतोंके उपलक्षणार्थ प्रसिद्ध है। जैसे परमात्माने सबके आदिमें जलतत्त्वकी सृष्टिकी है और पुनः उसमें वीर्यका सृजन किया, इत्यादि प्रसङ्गोंमें भी जल शब्द आकाशादि पञ्चभूतोंके उपलक्षणके रूपमें द्योतित होता है। और यह पञ्चाग्नि-विद्याके निरूपणमें भी सुना जाता है कि—'पञ्चम आहूतिमें आपकी पुरुषसंज्ञा हो जाती है।' और यहाँ 'आप'को ही पुरुषशब्दका वाच्यत्व प्रदर्शित किया है।

यह कहा जाता है कि—यदि परम ब्रह्म परमात्माका स्वरूप संसारके

प्रविष्टत्वाद् घटादिवदीदृग्रूपादिमत्त्वमन्यस्मिश्चावस्थानं भवेत्। इदं तु पुनरपूर्वादिलक्षणत्वात् संसाराननुप्रविष्टमेव ब्रह्म, तस्माद्रूपादिरहितमेव तदिति॥२०॥

तर्हि न कस्य कुत्राप्युपलभ्यते इत्याह—

न तारकासु न च विद्युदाश्रितं नचाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य।
न चापि वायौ न च देवतासु नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये॥२१॥
नैवर्क्षु तन्न यजुःषु नाप्यथर्वसु न दृश्यते वै विमलेषु सामसु।
रथन्तरे वार्हते वापि राजन् महाव्रतस्यात्मनि दृश्यते तत्॥२२॥

'ज्ञानं च सत्यं च' इत्युपक्रम्य 'महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य' इति ये गुणा उक्तास्तत्संयुक्तस्यात्मनि दृश्यते तत्परं ब्रह्म न घटादिवदिदंतया सिध्यति, अपि त्वात्मन्येवात्मतया सिद्धयतीत्यर्थः॥ २१-२२॥

इदानीं तत्स्वरूपं तद्दर्शनं तत्फलं च श्लोकद्वयेन निर्दिशति—

अन्तर्गत होता तो संसार धर्ममें अनुप्रविष्ट होनेके कारण घटादिकी भाँति उस ब्रह्मका भी अमुक नाम-रूपादिक वस्तुसे सम्बन्ध एवं अन्य भी अवस्थान देखनेमें आता। परन्तु अपूर्वादिरूप-कार्यकारणसे शून्य होनेके कारण यह ब्रह्म संसारमें अनुप्रविष्ट नहीं हो सकता है; इसलिये कि वह अक्षय-अविनाशी परमात्मा नाम-रूपादिवस्तुसे सर्वथा रहित रहता है॥२०॥

ऐसी स्थितिमें तो यह किसीको कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकेगा? इस पर कहते हैं कि—

यह ब्रह्मतत्त्व न नक्षत्रगणमें, न विद्युत् आश्रित ही है और मेघोंमें ही इसका स्वरूप देखनेमें आता है तथा वायु एवं देवगणोंमें भी नहीं है और न सूर्य तथा चन्द्रमामें ही देखा जाता है। हे राजन्! यह ब्रह्म न ऋग्वेदमें ही है और न यजुर्वेदमें, न अथर्ववेदमें और न विशुद्ध सामवेदकी श्रुतियोंमें ही उपलब्ध होता है तथा रथन्तर और बृहद्रथ सामगानमें भी नहीं देखा जाता है। इसका दर्शन तो ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणको विशुद्धचित्तमें ही होता है॥२१-२२॥

'ज्ञानं सत्यं च' इत्यादि सूत्रांशसे प्रारम्भ कर 'महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य' इस सूत्रपर्यन्त जिन द्वादश गुणोंका विवेचन किया गया है। उन दिव्यगुणोंसे सम्बन्धित व्यक्तिके अन्तःकरणमें ब्रह्मतत्त्व अभिव्यक्ति हो जाता है, इसलिये वह घटादिकी भाँति इदन्तया प्रतीत नहीं होता है, अपि तु वह तो अपने अन्तःकरण में आत्मरूपसे ही प्रकाशित हो जाता है, यही आशय है॥२१-२२॥

अवारणीयं तमसः परस्तात् तदन्ततोऽभ्येति विनाशकाले ।
अणीयरूपं च तथाप्यणीयसां महत्स्वरूपं त्वपि पर्वतेभ्यः ॥२३॥
तदेतदह्ना संस्थितं भाति सर्वं तदात्मवित्पश्यति ज्ञानयोगात् ।
तस्मिन् जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि
धृतराष्ट्रसनत्कुमारसंवादे श्रीसनत्सुजातीये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

यदिदं महाव्रतस्यात्मनि दृश्यते तदवारणीयं ब्रह्म सर्वगतत्वात् । तमसोऽज्ञानात् परस्तात् तद् ब्रह्म अन्ततोऽभ्येति प्रविशति विनाशकाले प्रलयकाले, जगदिति शेषः । तथा अणीयसामपि अणीयरूपं पर्वतेभ्योऽपि महत्स्वरूपम् । श्रूयते च—'अणोरणीयान्महतो महीयान्' इति ।

दृश्यन्ते च ये अणुत्वमहत्त्वादयो लोके तदेतत्सर्वं जगद् अह्ना अह्नो रूपेण प्रकाशरूपेण ब्रह्मणि संस्थितं तदात्मत्वेनैवावभाति । श्रूयते च—'तस्य

सम्प्रति उसके स्वरूप, उसके दर्शन और उसके फलको दो श्लोकों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है—

यह ब्रह्म अज्ञानरूप तमसे अतीत है इसलिये इसका अतिक्रमण संभव नहीं है और वह प्रलयकालमें भी एकरूप से रहता है तथा यह सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्मरूप है और महान्से भी महान् है। उस संवित्प्रकाशमें स्थित हुआ यह सारा विश्व उसीसे ही आभासित होता है, आत्मज्ञ पुरुष ज्ञानयोग द्वारा उसका दर्शन करते हैं; यह समस्त संसार उसी परमतत्त्वमें प्रतिष्ठित है जो लोग उसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं ॥२३-२४॥

महाव्रत करनेवाले ब्रह्मनिष्ठ पुरुषके अन्तःकरणमें जिस ब्रह्मतत्त्वका दर्शन होता है, वह परमतत्त्व सर्वव्यापी है इसलिये उसका परिच्छेद नहीं हो सकता है और अज्ञानरूप तमसे अतीत होनेके कारण अन्तमें अर्थात् जगत्के विनाश होनेके कालमें—प्रलयदशामें भी ब्रह्मतत्त्व एकरूपमें प्रतिष्ठित रहता है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें 'जगत्' शब्द वाक्यमें शेष अर्थका ज्ञापक है। इसलिये कि वह अणुओंसे भी अणु है और पर्वतादि महान् वस्तुओंसे भी महान् है। ऐसा ही श्रुतिका कथन है कि—'वह अणुओंसे भी अणु है और महान्से भी महान् है।'

तथा लोकमें भी अणुत्व एवं महत्त्व आदि प्रतीत होते हैं। वह सारा संसार अहः—प्रकाशरूपसे ब्रह्ममें स्थित हुआ तदात्मतया अवभासित होता है। और श्रुतिवाक्यसे भी सुना जाता है कि—'यह सारा विश्व उसके ज्ञानप्रकाशसे

भाषा सर्वमिदं विभाति' इति, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' इति च। तद्ब्रह्म आत्मवित्पश्यति ज्ञानयोगात् न कर्मयोगेन, तस्मिन्नेव परमात्मनि जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितम् । ये एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २३-२४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ सनत्सुजातीयभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

प्रकाशित होता है।' 'जिसके तेजसे प्रदीप्त होकर सूर्य प्रकाशित होता है।' अत एव आत्मज्ञ पुरुष उस ब्रह्मका ज्ञानयोगसे अपने अन्तःकरणमें दर्शन करता है, कर्मयोगसे नहीं। तथा उस परमात्मामें ही यह सारा नाम-रूपात्मक विश्व प्रतिष्ठित है, जो विवेकी पुरुष उसे तत्त्वतः जानते हैं वे जन्म-मरणसे रहित हो जाते हैं ॥२३-२४॥

इति आचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरविरचिता तृतीयाध्यायहिन्दीव्याख्या श्रुतिरञ्जनी

चतुर्थोऽध्यायः

'अवारणीयं तमसः परस्तात्' इत्यादिना ब्राह्मणो रूपं निर्धार्य 'तदात्मवित्पश्यति ज्ञानयोगात्' इति ज्ञानयोगेनात्मदर्शनमुक्तम्। पुनरपि तस्य स्वरूपं दर्शयित्वा योगिनस्तद्रूपं पश्यन्तीत्याह—

यत्तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः।
यद्वै देवा उपासते यस्मादर्को विराजते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ १॥

यद् ब्रह्मवित् पश्यति ज्ञानयोगात्, यज्ज्ञात्वा अमृता भवन्ति, तच्छुक्रं शुद्धमविद्यादिदोषरहितं महज्ज्योतिः सर्वावभासकत्वात्। श्रूयते च—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति। दीप्यमानं भ्राजमानं महद्यशः। श्रूयते च—'तस्य नाम महद्यशः' इति। यद्वै ब्रह्म देवा इन्द्रादय उपासते। श्रूयते च—'तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' इति। यस्मात् परज्योतिषो ब्रह्मणोऽर्क आदित्यो विराजते 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' इति श्रुतेः। एवंभूतं परमात्मनं भगवन्तं सनातनं योगिन एव पश्यन्ति, न पुनर्ज्ञानयोगरहिताः॥ १॥

इदानीं परस्मादेव ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाद्युत्पत्तिं दर्शयति—

शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्द्धते।
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ २॥

ऐसे भगवान् सनातन परमात्माका योगी लोग हृदय कमलमें अपरोक्षतया दर्शन करते हैं, जो ज्ञानयोगसे शून्य हैं, वे कभी भी दर्शन नहीं कर सकते हैं॥ १॥

सम्प्रति परमब्रह्म परमात्मा द्वारा ही हिरण्यगर्भ आदिकोंकी उत्पत्ति होना प्रदर्शित किया जाता है—

विशुद्धात्मा परमब्रह्म परमात्मासे ही सारे प्रपञ्चका उद्भव हुआ है और उसीसे अभिवृद्धिको प्राप्त होकर विराट् हुआ है। ज्योतियोंका प्रकाशक और स्वयमेव उनसे अप्रकाशित वह विशुद्ध ब्रह्म स्वयं प्रकाश है। उस सनातन परमात्माका योगी लोग ध्यान करते हैं॥ २॥

शुक्राच्छुद्धात् पूर्वोक्ताद् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्म प्रभवति उत्पद्यते। अथोत्पन्नं ब्रह्म शुक्रेण वर्धते विराडात्मना। तच्छुक्रं शुद्धं ब्रह्म ज्योतिषामादित्यानां मध्ये तैरतप्तमप्रकाशितं सत् तपति स्वयमेव प्रकाशते, तेषामपि तापनं प्रकाशकम्। योऽन्यानवभास्यः सर्वावभासकः स्वयमेवावभासते तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ २ ॥

इदानीं पूर्णवाक्यार्थं कथयति—

पूर्णात् पूर्णमुद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णं प्रचक्षते।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णं च पूर्णेनैवावशिष्यते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ३ ॥

पूर्णाद् देशतः कालतो वस्तुतश्च अपरिच्छिन्नात् परमात्मनः पूर्णमेवोद्धरन्ति जीवरूपेण। यत्पूर्णात् पूर्णमुद्धृतं जीवात्मना अतः पूर्णादेव समुद्धृतत्वादिदमपि जीवस्वरूपं पूर्णमेव प्रचक्षते विद्वांसः। तथा हरन्ति पूर्णाद् जीवात्मना-

शुक्र अर्थात् पूर्वोक्त विशुद्ध ब्रह्मसे ही यह सारा हिरण्यगर्भ नामक प्रपञ्चात्मक कार्यवर्ग उत्पन्न हुआ करता है और अनन्तर वह समुत्पन्न हुआ कार्यब्रह्म अपने कारणरूप विशुद्ध ब्रह्म से अभिवृद्धिकी प्राप्त होकर विराट्के रूपमें अभिव्यक्त हो जाता है। वह शुक्र—विशुद्धब्रह्म आदित्यात्मक ज्योतियोंमें अवस्थित हुआ उनसे अतप्त अर्थात् प्रकाशित नहीं होता है अपि तु अपने संवित्प्रकाशसे दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशित होता है। किसी दूसरोंसे अनवभास्य-प्रकाशित न होनेवाला एवं सभी जडचेतन वस्तुओंका प्रकाशक होनेसे वह स्वयं प्रकाशात्मा है। अत एव योगी पुरुष उस सनातन परमात्माका हृदयमें ध्यान करते हैं ॥ २ ॥

सम्प्रति 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि वाक्यका अर्थ प्रदर्शित किया जाता है—

पूर्ण ब्रह्मसे जीवरूप पूर्णको उद्धृत करते हैं और पूर्णसे उद्धृत होनेसे वह पूर्ण ही कहलाता है तथा पूर्णसे पूर्णको पृथक् कर लेते हैं, तो पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। योगी लोग उस सनातन परमात्माका दर्शन करते हैं ॥३॥

देश, काल एवं वस्तुधर्मसे अपरिच्छिन्न पूर्ण परमात्मासे जीवरूप पूर्णको ही अभिव्यक्त करते हैं; जबकि पूर्णब्रह्मसे जीवरूप पूर्णको हो उद्धृत किया है, इसीलिए विद्वज्जन पूर्ण ब्रह्मसे उद्धृत होनेके कारण इस जीवात्माको भी पूर्णरूपमें ही स्वीकार करते हैं।

वस्थितात् पूर्णमात्मस्वरूपमात्रं देहेन्द्रियाद्यनुप्रविष्टं देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं सर्वान्तरं देहद्वयादुद्धरन्तीत्यर्थ । तत उद्धृतेनैव मूलभूतेन पूर्णानन्देनावशिष्यते तेनैव पूर्णानन्देन ब्रह्मणा संयुज्यते । चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनावतिष्ठत इत्यर्थः ।

'पूर्णमेवावशिष्यते' इति वा पाठः । यदा देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं सर्वान्तरं देहद्वयादुद्धरन्ति, तदा पूर्णमेवावशिष्यत इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' ।

अस्यायमर्थः—पूर्णमदस्तच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं ब्रह्म । पूर्णमिदं त्वंशब्दनिर्दिष्टं प्रत्यगात्मस्वरूपम् । अनयोस्तत्त्वंपदार्थयोः कथं पूर्णत्वमिति चेत्, तत्राह—पूर्णादनवच्छिन्नात्पूर्णमेवोदच्यते उद्रिच्यते जीवेश्वररूपेण यस्मात् तस्मादनयोः पूर्णत्वमित्यर्थः । पूर्णस्य तत्त्वमात्मनावस्थितस्य पूर्णं रूपमादाय

शुद्ध आत्मतत्त्वसे पूर्णको पृथक् कर लेते हैं--जीवात्माके रूपमें स्थित पूर्ण आत्मस्वरूपको अलग करते हैं। भावार्थ यह है कि देहेन्द्रियोंमें अनुप्रविष्ट उन सबके साक्षिभूत सर्वान्तर्यामी आत्माको उन सबसे विवेक द्वारा पृथक् कर स्थूल-सूक्ष्मात्मक देहद्वयसे उद्धृत करते हैं। इसके पश्चात् उनसे उद्धृत किये हुए अपने मूलभूत परिपूर्णानन्दमय स्वरूप ही अवशिष्ट रह जाता है और उस पूर्णानन्दस्वरूपसे सम्पन्न हो जाता है। आशय यह है कि वह अपने सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मभावमें अवस्थित हो जाता है।

अथवा 'पूर्णेनैवावशिष्यते' इस स्थलमें 'पूर्णमेवावशिष्यते' इस प्रकारसे पाठान्तर करनेसे यह अर्थ निकलता है कि जब देहेन्द्रियोंसे पृथक् कर उन सबके साक्षिभूत अन्तर्यामी चिदात्माको स्थूल-सूक्ष्मात्मक देहद्वयसे उद्धृत करते हैं, पूर्ण ब्रह्म ही अवशेषरूपमें रह जाता है। और यही भगवती श्रुतिका कथन सिद्ध होता है कि--वह कारणब्रह्म पूर्ण है और यह कार्यरूप ब्रह्म भी पूर्ण है; इसलिए कि पूर्णसे पूर्णत्वकी उत्पत्ति होती है तथा कार्यरूप ब्रह्म पूर्णताको लेकर पूर्ण रूपमें ही शेषतया रह जाता है।

इसका सारगर्भित अर्थ यह है कि वह कारणरूप पूर्णब्रह्म 'तत्' शब्दका वाच्य है और जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है तथा यह पूर्ण-कार्यरूप ब्रह्म' त्वम्' शब्दसे निर्दिष्ट प्रत्यगात्मा है। अब यदि कहा जाय कि 'तत् एवं त्वम्' पदोंके वाच्योंकी पूर्णरूपता कैसे सिद्ध होगी ? तो इसका समाधन करते हैं-- जबकि अनवच्छिन्न पूर्ण प्रकाशात्मा ब्रह्मसे जीव और ईश्वरके रूपमें पूर्णब्रह्म

तत्त्वंपदार्थयोः शोधनं कृत्वा शोधितपदार्थः सन्निस्यर्थः। पूर्णमेव ब्रह्म अवशिष्यते पूर्णमेव ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः। यः पूर्णस्वरूपस्तं परमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ३ ॥

यथाऽऽकाशेऽवकाशोऽस्ति गङ्गायां वीचयो यथा।
तद्वच्चराचरं सर्वं ब्रह्मण्युत्पद्य लीयते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातम् ॥ ४ ॥

स्पष्टार्थः श्लोकः ॥ ४ ॥

इदानीं द्वा सुपर्णाविति मन्त्राथ कथयति—

आपोऽथाद्भ्यः सलिलं तस्य मध्ये उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरि।
आदध्रीचीः सविषूचीर्वसानावुभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ५ ॥

अस्मात् परमात्मन आपः प्रथमं सृष्टाः। तथा चाह मनुः—'अप एव

ही अभिव्यक्त होता है इसलिए इन दोनोंमें पूर्णरूपता देखी जाती है। 'तत् एवं त्वम्' अर्थात् ईश्वर एवं जीवके रूपमें अवस्थित पूर्णकी पूर्णता ग्रहण कर, 'तत् एवं त्वम्' पदार्थोंका शोधन कर अन्तमें शोधिन पदार्थ ही शेषतया रह जाता है। आशय यह है कि पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है अर्थात् पूर्ण ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। जो यह पूर्णस्वरूप है, उस परमात्माको योगी लोग ही देखते हैं ॥ ३ ॥

जैसे आकाशमें अवकाश है और गंगामें तरङ्गे उठती रहती हैं वैसे यह स्थावरजङ्गामात्मक संसार ब्रह्मसे उत्पन्न होकर उसी परमतत्त्वमें समाहित हो जाता है। योगी लोग उस सनातन ब्रह्मका दर्शन करते हैं ॥ ४ ॥

श्लोकका अर्थ स्पष्ट ही है ॥ ४ ॥

सम्प्रति 'द्वा सुपर्णाविति' इस मन्त्रका अर्थतः अनुवाद करते हैं----

सर्वप्रथम परमात्माने 'आप' की रचना की और आपसे सलिल हुआ। उसके मध्यमें आकाशके अन्तरालमें उपदिशाओंके सहित दिशाओंको आच्छादित करते हुए जीवात्मा और परमात्मा अवस्थित हैं, वे देव पृथिवी एवं घुलोकका पोषण भी किया करते हैं। उस सनातन देवका योगी लोग ध्यान करते हैं ॥५॥

सर्वप्रथम इस परमात्मासे आपकी सृष्टि हुई। और ऐसा ही भगवान्

ससर्जादौ' इति। भूतपञ्चकोपलक्षणार्थोऽप्छब्दः। अनेन सूक्ष्मसृष्टिरभिहिता। अथानन्तरमद्भ्यः पूर्वसृष्टाभ्यः सलिलं भूतपञ्चकात्मकं स्थूलदेहादिकं सृष्टम्। तस्य सलिलस्य देहात्मनावस्थितस्य मध्येऽन्तरिक्षे हृदयाकाशे उभौ जीव-परमात्मानौ देवौ द्योतनस्वभावौ शिश्रियाते वर्तेते।

न केवलमन्तरिक्षे एव शिश्रियाते आदध्रीचीः सविषूचीर्वसानौ आभि-मुख्येन ध्रियमाणा वा स्थिता वा अञ्चन्तीत्यादध्रीच्यो दिशः, विषूच्य उपदिशो विष्वग्गमनात्, ताभिः सह वर्तन्त इति सविषूच्यः प्राच्याद्याः सर्वा दिशः, वसानौ आच्छादयन्तौ उभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च। एको जीव आत्मनः स्वाभाविक-चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वमनवगम्य अनात्मनि देहादौ आत्मभावमापन्नः पृथिवीं भूतभौतिकलक्षणं कर्मफलानुरूपं सुखदुःखात्मकं देहादिकं बिभर्ति। अपरो दिवं द्योतनात्मकं स्वात्मरूपं बिभर्ति।

श्रूयते च--'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

मनुका भी कथन है कि—'सबसे पहले परमात्माने आपका सृजन किया।' प्रस्तुत प्रसङ्गमें 'अपः' शब्द आकाशादि पञ्चमहाभूतोंके उपलक्षणार्थं उद्धृत है एवं इससे सूक्ष्म सृष्टिका प्रतिपादन भी किया गया है। इसके पश्चात् पूर्वमें सृजन किये हुए आपसे 'सलिल' पञ्चभूतात्मक स्थूल शरीरादिकी सृष्टि हुई। उस जलका शरीररूपसे मध्यमें अन्तरिक्ष-हृदयाकाशमें ये दोनों द्योतनशील जीवात्मा और परमात्मा परस्पर आश्रित होकर रहते हैं। वे दोनों देव अन्त-रिक्षमें ही केवल आश्रित होकर नहीं रहते हैं अपि तु सविषूची और आदध्रीची को आच्छादित किये हुए हैं, जो कि सर्वत्र धारण किये हुए हैं अथवा चारों ओरसे अवस्थित किये हुए हैं। आदध्रीची अर्थात् दिशा विशेषकी संज्ञा है तथा सर्वत्र गमन करनेसे विषूची उपदिशाको कहते हैं। उन सबसे सम्बन्धित होनेके कारण उपदिशाओंके सहित प्राची-प्रतीची आदि सभी दिशायें कहलाती हैं। इस प्रकार उपदिशाओंके सहित दिशाओंको आच्छादित करते हुए जीवात्मा और परमात्मा ये दोनोंही देवता, पृथिवी और द्युलोकका पोषण करते हैं। जीवात्मा अपने स्वभावसिद्ध सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मात्मभावका अवबोध प्राप्त करके अनात्मभूत शरीरेन्द्रियादिमें आत्मभावको प्राप्त होकर पृथिवी अर्थात् कर्मफलानुसार भूत-भौतिकलक्षणवाले सुख-दुःखादि द्वन्द्वात्मक शरीरादि का ही मात्र पोषण करता है। दूसरा परमात्मा 'दिवं'-द्योतनात्मक अपने आत्मास्वरूपका पोषण करता है और यह उपनिषदोंमें सुना भी गया है कि— 'एक हो शरीररूपी वृक्षके आश्रित होकर दो पक्षी एक ही साथ रहते हैं, इनमें

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति। यः स्वात्ममायया स्वात्मानं प्राणाद्यनन्तभेदं कृत्वान्तरमनुप्रविश्य अभिपश्यन्नास्ते तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ५ ॥

इदानीं ज्ञानिनः स्वात्मन्यवस्थानं दर्शयति—

चक्रे रथस्य तिष्ठन्तं ध्रुवस्याव्ययकर्मणः।
केतुमन्तं वहन्त्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ६ ॥

ध्रुवस्याव्ययकर्मणः परमेश्वरस्य चेश्वरात्मनावस्थितस्य, रथस्य शरीरस्य त्रैलोक्यात्मनावस्थितस्य चक्रे संक्रमणात्मके देहे तिष्ठन्तं केतुमन्तं प्रज्ञावन्तम् अत एव च दिव्यम् अप्राकृतम् अजरं जरामरणादिधर्मविवर्जितम्, दिवि द्योतनात्मके अनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थिते पूर्णानन्दे ब्रह्मणि वहन्त्यश्वा इन्द्रियाणि।

एतदुक्तं भवति—यद्यपीन्द्रियाणि स्वभावतो विषयेष्वेव वर्तन्ते, तथापि विज्ञानसारथिना समाकृष्यमाणानि केतुमन्तं पुरुषं दिव्येव वहन्ति न परा-

से एक अपने स्वादु-कर्मफलको भोगता है और दूसरा कर्मफलको न भोगता हुआ देखता ही है अर्थात् कर्मफलका द्रष्टामात्र है।' जो अपनी योगमायाका आश्रय लेकर अपने आपको प्राणादि अनन्त प्रकारके भेदसे युक्त कर, उसमें प्रविष्ट होकर दर्शकमात्र रहता है, योगी लोग उस सनातन परमात्माका ध्यान करते हैं ॥ ५ ॥

अब ज्ञानीका अपने आत्मस्वरूपमें स्थित होना प्रदर्शित करते हैं—

ध्रुव और अव्ययकर्मवाले रथके चक्रमें स्थित उस दिव्य, अजर केतुवाले पुरुषको इन्द्रियगण धुलोकमें ले जाते हैं। योगीलोग उस सनातन परमात्माका दर्शन करते हैं ॥ ६ ॥

परमेश्वररूपसे अवस्थित शाश्वत और अनश्वरकर्मा परमात्माका रथ अर्थात् त्रैलोक्यरूपसे अवस्थित शरीरके चक्रमें अर्थात् संक्रमणात्यक शरीरमें रहता हुआ केतुवाले—प्रज्ञावान् उस पुरुषको इन्द्रियाँ धुलोकमें ले जाती हैं। इसलिए कि वह दिव्य अर्थात् अप्राकृत एवं जन्मजरामरण आदि दुःखोंसे रहित तथा अस्त और उदयभावसे शून्य संविद्रूप प्रकाशमें स्थित है। जिससे उस प्रज्ञावान् पुरुषको इन्द्रियरूप अश्व पूर्णानन्दमय ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं।

जबकि यह कहा जाता है कि इन्द्रियाँ स्वाभाविक शब्दादि विषयोंके

विषय इति। तदुक्तं कठवल्लीषु—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ इत्यादिना। यत्र परमात्मनि वहन्ति तपसा तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ६ ॥

नानेन सदृशं किंचिद्विद्यत इत्याह—

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
मनीषयाथो मनसा हृदा च य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥७॥

अस्य परमात्मनो रूपं न सादृश्ये तिष्ठति, नान्येन सादृश्ये वर्तते, नानेन सदृशं किञ्चिद्विद्यते इत्यर्थः। श्रूयते च—'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः' इति। अत एवोपमाद्यविषयत्वम्। तथा च न चक्षुषा पश्यति कश्चिदप्येनं सर्वान्तरं परमात्मानम्।

कथं तर्हि पश्यन्ति? मनीषया अध्यवसायात्मिकया बुद्ध्या। मनसा संकल्पविकल्पात्मकेन। हृदा च हृदयेन च साधनभूतेन। हृदयं विना नान्यत्र

प्रत्ति आकर्षित होती हैं ऐसी स्थितिमें भी विज्ञानसारथि द्वारा आकर्षित होती हुई केतुवाले पुरुषको द्युलोकमें ही ले जाती हैं और सदाके लिए बाह्यविषयोंसे विमुख करा देती हैं। इस विषयमें कठोपनिषद्में कहा गया है कि—शरीरके अध्यक्ष आत्माको रथी अर्थात् रथका स्वामी जान, शरीरको रथ, निश्चयात्मिका बुद्धिको सारथि और संकल्प-विकल्पात्मक मनको प्रग्रह जान। विवेकी जन शरीररूपी रथका वहन करनेसे चक्षु आदि इन्द्रियोंको अश्व तथा अश्वरूपसे कल्पित इन्द्रियोंके गोचर शब्दादि विषयोंको पथ एवं शरीरेन्द्रिय, मन, बुद्धि सहित आत्माको भोक्ता कहते हैं वे तप द्वारा उसे जिस परमात्मा तक पहुँचा देते हैं, योगी लोग उस सनातन परमात्माका ध्यान करते हैं ॥ ६ ॥

इस परम ब्रह्म परमात्माका स्वरूप किसीकी तुलनामें नहीं आ सकता है; क्योंकि कोई भी व्यक्ति इसको अपने नेत्रका विषय नहीं बना सकता है, परन्तु बुद्धिबलसे और हृदयगत विशुद्धभावसे जाना जा सकता है इसलिए वे अमरणधर्माके प्राप्त हो जाते हैं। योगी लोग उस सनातन परमात्माका ध्यान करते हैं ॥ ७ ॥

इस परमात्माका स्वरूप किसीकी तुलनामें नहीं आ सकता हैं और न किसी अन्यकी समानतामें भी है अर्थात् संसारकी कोई भी वस्तु इसकी समानता

परमात्मन उपलब्धिः सम्भवतीति मत्वा हृदा चेत्युक्तम्। अथवा न केवलं मनोबुद्धिमात्रेण अपि तु हृदा हृदयस्थेन च परमेश्वरेणानुगृहीताः सन्तो य एनं परमात्मानं विदुः—अयमहमस्मीति ते अमृता अमरधर्माणो भवन्ति।

अथवा हृदा हृदयेन परमात्मना। तथा च हृत्स्थे परमात्मनि हृदयशब्दं निर्वक्ति—'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद्धृदयमिति अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति' इति। तथा च तदधीनामात्मसिद्धिं दर्शयति श्रुतिः—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ इति।
एवं यं विदित्वा अमृता भवन्ति तं, योगिन एव पश्यन्ति॥ ७॥

नहीं धारण कर सकती है और ऐसा ही सुना भी जाता है कि—जिसकी प्रसिद्धि महान् यशस्वीके रूपमें सर्वत्र व्याप्त है, अतः उसकी कोई प्रतिमा भी देखनेमें नहीं आती है और उपमा आदिका विषय भी नहीं हो सकता है तथा कोई भी व्यक्ति उस सर्वान्तर्यामी परमात्माको नेत्रों द्वारा नहीं देख सकता है अर्थात् परमब्रह्म परमात्मा नेत्रोंका अविषय है। जब ऐसी बात है तब उसका दर्शन कैसे हो सकेगा ? मनीषा अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धिसे, संकल्प-विकल्परूप मनसे और हृदयसे अर्थात् उस परमतत्त्वकी प्राप्तिके साधनभूत हृदयसे, इसलिए कि हृदयके बिना इस परमात्माका साक्षात्कार किसी भी स्थितिमें संभव नहीं है, ऐसा मान करके हृदयसे ऐसा उद्धृत किया गया है अथवा केवल मन एवं बुद्धिसे ही उसका दर्शन संभव नहीं है अपि तु हृदयसे—हृदयमें अवस्थित परमेश्वरसे अनुग्रहीत होकर जो विवेकी पुरुष उस परमब्रह्म परमात्माको 'यह मैं ही हूँ' ऐसा जान लेता है वह मुमुक्षुजन जन्ममरणादि द्वन्द्वोंसे विमुक्त जाता है।

अथवा हृदा-हृदयसे अर्थात् परमात्मासे तथा हृदयस्थ परमात्माके लिए हृदय शब्दका प्रयोग किया गया है कि—वह अथवा यह आत्मा हृदयमें अवस्थित है, अत एव उस परमात्माके लिए ही यह हृदय शब्द कहा गया है, इसी कारण 'हृदयम्' ऐसा पद प्रस्तुत है उक्त प्रकारसे भलीभाँति जाननेवाला साधक अहर्निश स्वर्गलोकके प्रति प्रस्थान करता है और उसके अधीन आत्मसिद्धि प्रदर्शित करती है कि—'जिसकी देवतामें सर्वोत्कृष्ट भक्ति है और जैसी देवतामें है वैसी सद्गुरुमें भी है, उस महान् पुरुषके हृदयमें समस्त अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं।' इस प्रकार उस परमात्माका साक्षात्कार कर मुमुक्षु-

इदानीमिन्द्रियाणां विषयेषु प्रवृत्तिरनर्थाय भवतीत्याह—

द्वादश पूगाः सरितो देवरक्षिता मध्वीशते ।
तदनुविधायिनस्तदा संचरन्ति घोरम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ८ ॥

ये द्वादश पूगाः कर्मज्ञानेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, द्वादशी बुद्धिः, तेषामनेकपुरुषापेक्षयैकैकस्य पूगत्वमुच्यते । सरितः सरणशीलाः, देवरक्षिता देवेन परमात्मना रक्षिताः । मधुवद् विषयं मधु ईशते नियमयन्ति, असांकर्येण स्वं स्वं विषयमनुभवन्तीत्यर्थः । यदैवमनुभवन्ति तदा तदनुविधायनो विषयपराः संचरन्ति घोरं संसारम् । तस्मादिन्द्रियाणि विषयेभ्य उपसंहृत्य स्वात्मन्येव वशं नयेदित्यर्थः । येन रक्षिता मध्वीशते तं देवं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ८ ॥

पुरुष अमणधर्मको प्राप्त हो जाते हैं, उस सनातन परमात्माका योगी पुरुष ही दर्शन करते हैं ॥ ७

यद्यपि इन्द्रियोंकी विषयोंके प्रति प्रवृत्ति अनर्थके लिए ही होती है, इस पर कहते हैं कि—

द्वादश इन्द्रियोंकी समूहात्मक सरिताएँ परमात्मासे सुरक्षित हैं और वे मधुमय विषयोंका नियमन करती हैं । इसलिए पामर प्राणी उसका अनुगमन करते हुए घोर संसार सागरमें डूब जाते हैं । योगी लोग उस सनातन परमात्माका दर्शन करते हैं ॥ ८ ॥

पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, ग्यारहवाँ संकल्प-विकल्पात्मक मन एवं बारहवीं निश्चयात्मिका बुद्धि इस प्रकार जो द्वादश समूह हैं इनमेंसे प्रत्येक अनेक पुरुषोंसे सम्बन्धित रहती है, इसी कारण प्रत्येकको समूह कहा जाता है । सरितः अर्थात् उन सरिताओंका संसरण स्वभाव है और वे परमात्मासे रक्षित भी हैं तथा मधुका ईशन अर्थात् मधुकी भाँति विषयका नियमन करते हैं परस्पर सांकर्यको छोड़ करके अपने-अपने विषयोंका अनुभव करते हैं । जब इस प्रकार विषयोंका अनुभव करते हैं, तब उनका अनुगमन करनेवाले विषयोंके अभिमुख होकर घोर संसारचक्रमें भटकते हैं ।

भावार्थ यह है कि इन्द्रियोंको शब्दादि विषयोंसे निवृत्त कर अपने आत्मस्वरूपमें समाहित करना चाहिए । जिससे रक्षित होकर मधुका नियमन करते हैं, योगी पुरुष उस सनातन परमात्माका ध्यान करते हैं ॥ ८ ॥

किं च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तत्राभिधानम्—

तदर्धमासं पिबति संचितं भ्रमरो मधु।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ९॥

यथा मधुकरो भ्रमरोऽर्द्धमासोपार्जितं मधु अर्धमासं पिबति, एवमसावपि भ्रमरो भ्रमणशीलत्वात्संसारी तद्विषयं मधु अर्द्धमाससंचितमर्द्धमासं पिबति। पूर्वजन्मसंचितं कर्म अन्यस्मिन् जन्मनि भुङ्क्ते इति यावत्।

भवेदप्यैहिकफलात्कर्मणः फलसिद्धिः कर्मान्तरभावित्वात्; कथं पुनरामुष्मिकफलात्कर्मणः फलसिद्धिः स्यात्, कर्मणो विनाशित्वादित्याशङ्क्याह—ईशान इति। भवेदयं दोषः, यदि केवलात्कर्मणः फलसिद्धिः स्यात्, ईशानः परमेश्वरः कृतप्रयत्नापेक्षः सन् सर्वेषु प्राणिषु प्राणाग्निहोत्रस्येतरस्य च तत्कर्मा-

और उसीमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दिखलाते हैं—

यह भ्रमर-भ्रमणशील जीवात्मा पूर्वसंचित कर्मोंके अनुसार अपने मधु-कर्मफलको भोगता है, कर्मफलके नियोजक परमेश्वरने सभी प्राणधारियोंके लिए भोग्य वस्तुओंका निर्माण कर दिया है। योगी लोग उस सनातन परमात्माका ध्यान करते हैं॥ ९॥

जैसे मधुकर-भ्रमर अर्धमासमें एकत्रित किये हुए मधु-शहदका अर्धमास-पर्यन्त पान करता रहता हैं वैसे जीवात्मा भी भ्रमणशील है यह भ्रमणशील-जीवात्मा संसारमें निरन्तर परिभ्रमण करता हुआ कर्मफलको भोगता है अत एव जीवात्मासे सम्बन्धित अर्धमासपर्यन्त पूर्वजन्मोपार्जित संचितरूप क्रियमाण कर्म मधुके रूपमें अर्धमासपर्यन्त पान करता है। आशय यह है कि पूर्वजन्ममें सम्पादित शुभाशुभ संचित कर्म अपर जन्ममें भोगता है और ऐहिक फलसे कर्मविषयक फलका सिद्धि देखी जाती है इसलिए कि वह कर्मानुष्ठानके अनन्तर ही होती है, यह सत्य है, परन्तु आमुष्मिक फलसे कर्मविषयक फलकी सिद्धि कैसे संभव है? अतः कर्म तो स्वभावतः विनाशशील है? ऐसी आशङ्का कर उत्तरमें कहते हैं कि 'ईशानः' यदि कर्ममात्रसे ही फलकी सिद्धि होती है,

तो यह दोष अवश्य ही आ सकता है, परन्तु ईशान—अर्थात् परमेश्वर ने जीवात्माके द्वारा किये हुए प्रयत्नको मान करके सभी देहधारी जीमात्माओं के लिए प्राणाग्निहोत्र और दूसरेके निमित्त भी उसके कर्मानुसार हविर्भूत—

नुसारेण हविर्भूतमन्नादिममकल्पयत् । य ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्तं भगवन्तं योगित एव पश्यन्ति ॥ ९ ॥

किंच, किमेते मध्वाशिनो बम्भ्रम्यमाणाः परिवर्तन्त एव सर्वदा, किंवा ज्ञानं लब्ध्वा मुक्ता भवन्तीत्याशङ्क्याह—

हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपत्य ह्यपक्षकाः ।
तत्र ते पक्षिणो भूत्वा प्रपतन्ति यथासुखम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १० ॥

ये अपक्षका ज्ञानपक्षरहिता मध्वाशिनः परिवर्त्तन्ते, ते हिरण्यपर्णमश्वत्थं हितं च रमणीयं चेति हिरण्यं हितं रमणीयं च पर्णं यस्याश्वत्थस्य । तथा चाह भगवान् वासुदेवः--'छन्दांसि यस्य पर्णानि' इति । ते हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपत्य आरुह्य वेदसंयोगिब्राह्मणादिदेहं प्राप्येत्यर्थः । तत्रैव ब्राह्म-

पदार्थरूप अन्नादिका विभाग किया है । जिस ईशानरूप परमेश्वर द्वारा सभी प्राणधारियोंके लिए अन्नादिरूप भोग्यवस्तुओंका विभाग किया है, योगी लोग उस सनातन देवका दर्शन करते हैं ॥ ९ ॥

तथा जो ये लोग कर्मफलके भोगी भ्रमणशील जीवात्मा हैं; क्या वे संसार में निरन्तर भ्रमण ही करते रहते हैं, किं वा आत्मज्ञान पाकर विमुक्त हो जाते हैं ? इसका उत्तर देते हैं--

ज्ञानरूपी पक्षसे रहित प्राणी हिरण्यगर्भमय अश्वत्थ वृक्षपर आरूढ हो जाते हैं और पुनः वे पंखसे युक्त होकर विचरण करते हैं। योगी लोग उस सनातन परमात्माका ध्यान करते हैं ॥ १० ॥

अपक्षक--ज्ञानरूपी पक्षसे रहित हुआ यह जीवात्मा कर्मफलके भोगके लिए संसारचक्र में भटकता है, वह हिरण्यमय अश्वत्थ वृक्ष है। जो हितात्मक रमणीय है वह हिरण्य है इसलिए कि हिरण्यमय अश्वत्थ वृक्षका कल्याणकर, रमणीय पर्ण-पत्ते वेद हैं।' और ऐसा ही गीताशास्त्रमें पञ्चदश अध्यायके अन्तर्गत भगवान् द्वारा वर्णित है कि--जिसके पत्ते वेद हैं।' आशय यह है कि वे हितकर रमणीय पर्णोंसे युक्त अश्वत्थ वृक्षके ऊपर आरूढ होकर वेदसे सम्बन्धित ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणादिके शरीरको धारणकर, उन्हींके शरीरोंसे ज्ञानी होकर सुखपूर्वक यथासाध्य मुक्तिके लिए यत्न करते हुए विचरते हैं।

ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थमें प्रमाण प्राप्त होता है कि--जो विद्वान् ज्ञानी हैं

णादिदेहे पक्षिणो ज्ञानिनो भूत्वा। तथा च ब्राह्मणम्--'ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो ये अविद्वांसस्ते अपक्षाः' इति। प्रपतन्ति यथासुखं प्रयत्नं कृत्वा मुक्ता भवन्तीत्यर्थः। यं ज्ञात्वा प्रपतन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १० ॥

इदानीं योग्यं दर्शयति--

अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चन्द्रमाः।
आदित्यो गिरते चन्द्रमादित्यं गिरते परः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ११ ॥

अपानं गिरति उपसंहरति प्राणः। प्राणं गिरति चन्द्रमाः—मन उपसंहरति। मनसश्चन्द्रमा अधिदैवनं तस्मात् चन्द्रमस्शब्देन मन उच्यते। तं चन्द्रं मन आदित्यो बुद्धिर्गिरते, बुद्धेश्चाधिदैवतमादित्यः। तमादित्यं बुद्धिं गिरते परः परं ब्रह्म। एतदुक्तं भवति—समाधिवेलायामपानं प्राणे उपसंहृत्य प्राणं मनसि मनश्च बुद्धौ बुद्धिं परमात्मन्युपसंहृत्य स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनैवावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

इदानीं परस्य जीवात्मनावस्थानं दर्शयति—

वस्तुतः वे ही लोग पक्षी माने जाते हैं और अविद्वान् अज्ञानी प्राणी हैं वे पक्षसे रहित ज्ञानशून्य हैं। अतः वे ज्ञानी पुरुष जिस परमब्रह्म परमात्माका ज्ञान पाकर उड़ते हैं, योगी लाग उस सनातन पुरुषका ध्यान करते हैं ॥१०॥

सम्प्रति योगीका स्वरूप दिखाते हैं--

अपने स्वरूपमें प्राण अपानको विषय कर लेता है; चन्द्रमारूपी मन प्राणको विलय कर लेता है, सूर्यरूपी बुद्धि चन्द्रमारूपी मनको और परमात्मा सूर्यको अपनेमें समाहित कर लेता है। योगी लोग उस परमात्माका दर्शन करते हैं ॥ ११ ॥

अपनेमें प्राण अपानका उपसंहार कर लेता है अर्थात् अपने स्वरूपमें विलीनीकरण कर लेता है, इसलिए कि चन्द्रमा मनका अधिष्ठातृदेवता आदित्य भगवान् सूर्यनारायण है और परमात्मा सूर्यरूपी बुद्धिको अपनेमें समाहित कर लेता है। यह कहा गया है कि- समाधिदशामें अपानको प्राणके अन्तर्गत समाहित कर मनमें प्राणको बुद्धिमें मनको एवं परमात्मामें बुद्धिको विलीन कर ज्ञानी पुरुष अपने स्वभावसिद्ध सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मभावमें अवस्थित हो जाता है, यही इसका तात्पर्य है ॥ ११ ॥

अब परमात्माकी जीवात्माके रूपमें अवस्थिति दिखलाते हैं

एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
तं चेत्सततमुत्क्षिष्ठन्न मृत्युर्नामृतं भवेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १२ ॥

हन्त्यविद्यां तत्कार्यं चेति हंसः परमात्मा भूतभौतिकलक्षणात्संसारात् सलिलाद् उच्चरन् ऊर्ध्वं चरन् संसाराद् बहिरेव वर्तमान एकं जीवाख्यं पादं नोत्क्षिपति नोद्धरति नोपसंहरति, रूपंरूपंप्रतिरूपोऽवतिष्ठत इत्यर्थः। श्रूयते च कठवल्लीषु —'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' इति।

कस्मात्पुनरेकं पादं नोत्क्षिपतीत्यत्राह—तं जीवाख्यं पादं सततं संततयायिनं यद्युत्क्षिपेत् स्वमायया स्वमात्मानं प्राणाद्यनन्तभेदं कृत्वा तेष्वनुप्रविश्य जीवात्मना यदि नावतिष्ठेत्, तदा न मृत्युर्जननमरणादिलक्षणोऽनर्थः संसारिणो जीवस्याभावात्। तथा अमृतमतृतत्त्वं मोक्षो न भवेत्, अननुप्रविष्टस्य दर्शनासम्भवात्।

परमात्मा संसारसे ऊपर विचरते हुए अपने एक पादको नहीं उठाता, यदि यह उसे ऊपर उठा लें, तो न मृत्यु और न अमृत हो होगा। योगी लोग उस सनातन परमात्माका दर्शन करते हैं ॥ १२ ॥

अविद्या और उसके कार्यकी निवृत्ति करता है इसीसे परमात्मा हंस है और वह भूत-भौतिकात्मक संसाररूप सलिलसे ऊपरकी ओर जाता हुआ अर्थात् संसारिक प्रवृत्तियोंसे पृथक् रहता हुआ जीवनामक एक पादको नहीं निकालता है। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थमें उसीका स्वरूप विद्यमान है। और यह कठवल्लियोंमें सुना भी जाता है समस्त भून-प्राणियों का एक ही अन्तरात्मा अग्निवत् सभी शरीरोंमें प्रविष्ट होता हुआ उनके अनुरूप हो गया है।' तब फिर कैसे वह अपने एक पादको नहीं निकालता है? इसपर कहते हैं स्वर्गं विस्तारके प्राप्त हुए उस जीवनामक पादका यदि वह उपसंहार कर लेता है अर्थात् वह परमात्मा प्राणादि अपरिमित भेदोंसे युक्त त्रिगुणात्मिका मायाका आश्रय लेकर उनमें अनुप्रविष्ट होकर जीवरूपसे अवस्थित नहीं होता; ऐसी स्थितिमें संसारी जीवात्माका अभाव हो जाता, इसलिए न मृत्यु और न अमृत ही होगा अर्थात् जन्म-मरणादि लक्षणवाले संसारका अनर्थ ही हो सकता है, इसलिए कि जिसका अनुप्रविष्ट नहीं है उसका कदापि मोक्ष नहीं देखा जाता।

तथा 'रूपं रूपं प्रतिरूपी बभूव' इत्यादि अंशसे भगवती श्रुतिने ही उस परमात्माका अनुप्रविष्ट प्रदर्शित किया है।

तथा च तदर्थमेवानुप्रवेशं दर्शयति—रूपं रूपमिति। तथा चाथर्वणी श्रुतिः—'एकं पादं नोक्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन्। स चेदुक्षिपेत्पादं न मृत्युर्नामृतं भवेत्' इति। एकं रूपं बहुधा करोति' इति च। यः पादरूपेण जीवात्मना त्रिपादरूपेण चित्सदानन्दाद्वितीयेन ब्रह्मात्मनावस्थितस्तं परमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १२ ॥

केन तर्ह्युपाधिना परः पादात्मना अवतिष्ठत इत्याशङ्क्य परस्यैव लिङ्गोपाधिकं जीवात्मानं दर्शयति—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा लिङ्गस्य योगेन स याति नित्यम्।
तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं पश्यन्ति मूढा न विराजमानम्॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥१३॥

स एव सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽन्तरात्मा सर्वभूतान्तरात्मा पुरुषः पूर्णः परमात्मा लिङ्गस्य योगेन अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रपरिमाणपरिच्छिन्नः सन् याति संसरति नित्यम्।

और ऐसा ही आथर्वणी श्रुतिका भी कथन है कि—संसार सलिलसे ऊपर गमन करता हुआ यह परमात्मा अपने एक पादको बाहर नहीं निकालता है और यदि वह अपने एक पादको संसाररूप सलिलसे बाहर निकाल लेता है, तो न मृत्यु ही होगी और न अमृत ही होगा। भगवती श्रुतिका भी यही कथन है कि जो एक रूपमें रहता हुआ भी अनेकरूपोंमें विभक्त हो जाता है। जो एक पादरूप जीवभावसे और त्रिपादरूप सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थित है, योगी पुरुष उस सनातन परमात्माका दर्शन करते हैं॥ १२॥

तब फिर वह परमात्मा किस प्रकार उपाधिसे युक्त होकर पादरूपसे स्थित रहता है? इस प्रकार आशङ्का कर परमात्माके ही लिङ्गेपाधिवाले जीवात्माको दिखाते हैं

वह अन्तर्यामी परमात्मा लिङ्ग शरीरके सम्बन्धसे अङ्गुष्ठ परिणामी होकर निरन्तर संसरण करता है, अज्ञानवशात् मूढ प्राणी उस स्तुत्य, अतुलनीय संवित्प्रकाशात्मक परमतत्त्वको नहीं समझ पाते हैं। योगी लोग उस सच्चिदानन्द देवका ध्यान करते हैं॥ १३॥

वह सच्चिदानन्द अद्वितीय अन्तर्यामी पुरुष अर्थात् समस्त भूतप्राणियोंके आत्मस्वरूप परिपूर्ण परमात्मा लिङ्गशरीरके योगसे अङ्गुष्ठमात्र-

कस्मात् पुनः कारणाल्लिङ्गयोगेनाङ्गुष्ठमात्रः संसरति ? तत्राह—यो लिङ्गस्य योगेनाङ्गुष्ठमात्रः संसरति तमीशं सर्वस्येशितारम् ईड्यं स्तुत्यम् अनुकल्पं सर्वमनुप्रविश्यात्मना कल्पयतीत्यनुकल्पम् आद्यम् आदौ भवं विराजमानं दीप्यमानं यस्मान्मूढा अविवेकिनो देहद्वयात्माभिमानिनो न पश्यन्ति तस्मादात्मनो ब्रह्मभावानवगमात्संसरन्तीति । यमात्मानम् अपश्यन्तः संसरन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १३ ॥

इदानीमिन्द्रियाणां च विषयाणां चानर्थहेतुत्वं दर्शयति—

गूहन्ति सर्पा इव गह्वरेषु क्षयं नीत्वा स्वेन वृत्तेन मर्त्यान् ।
ते विप्रमुह्यन्ति जना विमूढास्तैर्दत्ता भोगा मोहयन्ते भवाय।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥१४॥

यथा सर्पा गह्वरेभ्यो निष्क्रम्य स्वेन वृत्तेन विषप्रदानेन मर्त्यान् क्षयं

अङ्गुष्ठमात्र परिणामसे युक्त परिच्छिन्नभावको प्राप्त होकर निरन्तर जन्म-मरणरूप संसारधर्मको प्राप्त होता रहता है ।

किन्तु किस हेतुसे लिङ्गशरीरसे युक होकर अङ्गुष्ठमात्र परिणामसे संसरण करता है ? इसके समाधानमें कहते हैं कि जो लिङ्गशरीरके योगसे अङ्गुष्ठमात्र परिणामको प्राप्त होकर संसरण करता है । उस ईश सबके नियामक परमेश्वर, ईड्य-स्तुति करने योग्य एवं अनुकल्प्य सबमें अनुप्रविष्ट होकर आत्म रूपसे अपने आपको उपाधिके अनुरूप बना लेता है; जबकि सबके आदिमें होनेवाले, विराजमान-प्रकाशमान परमात्माको स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंमें अभिमान करनेवाले मूढ लोग नहीं जान पाते हैं, इसलिए अपने आत्मस्वरूपका अवबोध न होनेसे जन्म-मरणरूप संसारधर्मको प्राप्त होते हैं । जिस आत्मतत्त्वका दर्शन न करनेके कारण संसरण करते हैं किन्तु योगी पुरुष ही उस परमात्माका दर्शन करते हैं ॥ १३ ॥

सम्प्रति इन्द्रियोंकी और विषयोंकी अनर्थतामें कारणता दिखलाते हैं ।

जैसे सर्प अपने बिलसे बाहर निकल कर प्राणधारी जीवोंके प्रति विषप्रदान-रूप कार्यको सम्पादित कर पुनः उसमें छिप जाते हैं, वैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ भी अपने-अपने गोलकमें छिप जाती हैं । वे मूढलोग मोहाग्रस्त हो जाते हैं; इसलिए कि उनके द्वारा प्रदत्त भोग उन्हें संसारके लिए मोहपाशमें बाँध देते हैं । योगी लोग उस सनातन परमात्माका ध्यान करते हैं ॥ १४ ॥

जैसे विषधर सर्प अपने-अपने बिलोंसे बाहर निकल करके देहधारी प्राणियों

नीत्वा गह्वरेषु गूहन्ति स्वात्मानं प्रच्छादयन्ति, एवम् इन्द्रियसर्पाः श्रोत्रादिषु शयानाः श्रोत्रादिभ्यो निर्गत्य स्वेन वृत्तेन विषयविषप्रदानेन मर्त्यान् क्षयं नीत्वा गह्वरेषु गूहन्ति स्वात्मानं प्रच्छादयन्ति, ते विप्रमुह्यन्ति विषयविषाभिभूता विशेषेण मुह्यन्ति व्यतिरिक्तं न किञ्चिज्जानन्तीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः--'यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तः' इति।

तैरिन्द्रियसर्पैर्दत्ता भोगा विषकल्पा विषया मर्त्यान् मोहयन्ते, पुनः पुनर्मोहहेतवो भवन्ति। यदिदं विषयैर्विमोहनं तद् भवाय गर्भजन्मजरामरण-संसाराय भवति। यमनवद्यमनुकल्पमाद्यम् अदृष्ट्वा विषयविषान्धा मुह्यन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १४ ॥

सम्मतिमाह—

नात्मानमात्मस्थमवैति मूढः संसारकूपे परिवर्तते यः।
त्यक्त्वाऽऽत्मरूपं विषयांश्च भुङ्क्ते स वै जनो गर्दभ एव साक्षात्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥१५॥

के प्रति विष प्रदानरूप कार्यको सम्पादित करते हुए क्षयधर्मको प्राप्त कर पुनः अपने आपको बिलोंमें छिपा लेते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियरूप सर्प श्रोत्रादिकोंमें शयन करते हुए उनसे बाहर निकल कर अपने-अपने विषयरूप विषप्रदानके द्वारा देहधारी जीवोंको क्षयधर्मकी प्राप्ति करा करके अपने आपको गह्वरोंमें अर्थात् इन्द्रियरूप गोलकोंमें छिपा लेते हैं। आशय यह है कि पामर प्राणी विषयरूप विषसे अभिभूत होकर अत्यधिक मोहाग्रस्त हो जाते हैं, उस कालमें इसके अतिरिक्त उसे किसी भी प्रकारका बोध नहीं रहता है। और भगवती श्रुति भी यही कहती है कि जैसे अपनी प्रियतमासे आलिङ्गित हुआ पुरुष कुछ भी नहीं जानता है।

उन इन्द्रियरूप सर्पोंके द्वारा प्रदत्त विषतुल्य विषयभोग प्राणियोंको मोह-पाशमें बाँध देते हैं और वे बारम्बार मोहाग्रस्त हुए उन विषयोंके अधीन हो जाते हैं, जो यह विषयोंसे मोहको प्राप्त होना है, वह गर्भमें बारम्बार जन्म ग्रहण करना एवं जरा व्याधि आदि अनेक दुःखोंसे आक्रान्त होकर मृत्युरूप संसारधर्मको प्राप्त होना ही है।

जो निर्दोष, उपाधिके अनुरूप आद्य पुरुषका साक्षात्कार न कर विषयरूप विषसे अन्धे हुए पामर प्राणी मोहित हो जाते हैं। योगी लोग उस सनातन परमात्माका ध्यान करते हैं ॥ १४ ॥

अब अपना सिद्धान्त प्रदर्शित करते हैं

मूढः—आत्मानात्मविवेकशून्यः पुमान् आत्मस्थम् आत्मनि तिष्ठन्तं न जानाति स एवाहमिति, अतः कारणात् संसारकूपे संसार एव कूपस्तस्मिन् परिवर्तते श्वशूकरादियोनिं प्राप्नोति, अपरोक्षात्मचैतन्यं देहादिदोषरहितं सर्वावभासकं येन सूर्यस्तपति स एव तत्वरूपं परित्यज्यानित्यान् विषयान् भोगान् भुङ्क्ते, स जनो न, तर्हि किम् ? साक्षाद्गर्दभ भव। एवं विधं पूर्वोक्तमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १५ ॥

ज्ञानिनां मोक्षस्वरूपमाह—

अप्तसाधना वापि ससाधना समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु।
समानमेतदमृतस्येतरस्य युक्तास्तत्र मध्व उत्सं समापुः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥१६॥

ये असाधनाः शमदमादिसाधनरहिताः, ये च शमदमादिसाधनयुक्ताः

जो व्यक्ति संसाररूपी कूपमें गिर जाता है, वह मूढ अपने अन्तःकरणमें अवस्थित स्वयं प्रकाश आत्माको नहीं जान पाता है और आत्मस्वरूपका परित्याग करके शब्दादि विषयोंको भोगता है, वह साक्षात् गर्दभ ही है। योगी पुरुष उस सनातन परमात्माका ध्यान करते हैं ॥ १५ ॥

जिसमें आत्मा और अनात्माका विवेक नहीं है ऐसे मूढ व्यक्तिको अपने आपमें रहनेवाले आत्माका दर्शन नहीं हो सकता है कि 'मैं शुद्ध, बुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ।' इसी कारण वह मूढ प्राणी ससारकूपमें अर्थात् संसार ही कूप है उसमें गिर जाता है और श्वान, सूकरादि योनियोंमें जन्म ग्रहण करता रहता है। देहादि दोषोंसे शून्य, सबके अवभासक, अपरोक्ष आत्मचैतन्य जिससे सूर्य तपता है, वही उसका स्वरूप माना जाता है और जो लोग उस आत्मस्वरूपको छोड़कर क्षणभङ्गुर विषयभोगोंको भोगनेमें रह जाता है उसको पुरुष नहीं माना जायेगा। तब फिर वह क्या है ? वह तो साक्षात् गर्दभ है। इस प्रकार पूर्वोक्त आत्मस्वरूपका योगी पुरुष ध्यान करते हैं ॥ १५ ॥

सम्प्रति ज्ञानियोंके मोक्षका स्वरूप प्रदर्शित किया जाता है

यह परमात्मा साधनहीन और साधन संपन्न इन दोनों व्यक्तियोंमें समानतया देखा जाता है तथा अमृत एवं संसारमें भी समानरूपसे ही रहता है, किन्तु साधनयुक्त व्यक्तिमें मधुका स्रोत निरन्तर प्रवाहित रहता है। योगी पुरुष उस सनातन परमात्मा दर्शन करते हैं ॥१६॥

जो व्यक्ति असाधन अर्थात् शम, दम, तितिक्षा आदि साधनोंसे रहित

ससाधनाः, तेषु समानं साधारणमात्मस्वरूपं दृश्यते मानुषेषु। तथा समानममृतस्य मौक्षस्य इतरस्य संसारस्य सति चासति च तेषां मध्ये ये युक्ताः शमदमादिसाधनयुक्ताः, ते तस्मिन् विष्णोः परमे पदे मध्वो मधुन उत्सं समापुः पूर्णानन्दं ब्रह्म प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यमुत्सं सम्पूर्णानन्दं युक्ताः प्राप्नुवन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १६ ॥

किं च—

उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति तदाहुतं चाहुतमग्निहोत्रम्।
मा ते ब्राह्मी लघुतामादधीत प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥१७॥

उभौ लोकौ इहलोकपरलोकौ विद्यया ब्रह्मात्मत्वविषयया व्याप्य याति तत्पूर्णानन्दं ब्रह्म। तस्मादुभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति, तस्मादहुतं चाग्निहोत्रम् अनेनात्मज्ञानेन आहुतमाभिमुख्येन हुतं भवति। सर्वमग्निहोत्रादिकं

है और जो शमादि साधनोंसे युक्त अर्थात् साधन सहित है उन साधक पुरुषोंमें साधारणतया आत्मस्वरूप एक-सा ही देखा जाता है तथा अमृत-मोक्ष और इतर संसारके रहने और न रहनेपर भी परमात्मा एकरूपमें ही अवस्थित रहता है। परन्तु उन सभी लोगोंके मध्यमें जो शम, दम, तितिक्षा आदि साधनोंसे युक्त रहते हैं वे साधक पुरुष ही भगवान् विष्णुके परमपदमें भली प्रकार मधुका स्रोत प्राप्त करते हैं अर्थात् परिपूर्णानन्दमय ब्रह्मको पा लेते हैं। जिस मधु स्रोतको अर्थात् सम्पूर्णानन्दको शम, दम आदि साधनसम्पन्न विद्वान् पुरुष ही प्राप्त करते हैं, उसका योगी पुरुष ही साक्षात्कार करते हैं ॥१६॥

वह लोकद्वयको ब्रह्मविद्या द्वारा अधिकृत कर प्रस्थान करता है, उसके द्वारा हवन न किया हुआ अग्निहोत्र भी किया हुआ हो जाता है, तुम्हारी ब्रह्मविद्या भी लघुताको प्राप्त मत हो उसका नाम प्रज्ञान है और उसे धीर पुरुष प्राप्त करते हैं, योगी पुरुष उस सनातन परमात्माका दर्शन करते हैं ॥१७॥

वह परिपूर्णानन्दमय ब्रह्म लोक और परलोक इन दोनोंको विद्यासे अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धिनी ब्रह्मविद्यासे अधिकृत होकर यहाँसे प्रस्थान करता है, जिससे कि वह लोक और परलोक इन दोनोंको व्याप्त करके यहाँसे प्रस्थान करता है, इसी कारण हवन न किया हुआ अग्निहोत्र भी इस आत्मज्ञानके द्वारा भली प्रकार हुत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जो सम्पूर्ण अग्निहोत्रादिक

कर्मफलं चानेनैव सम्पादितं भवतीत्यर्थः। यस्मादुभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति यस्मादहुतं चाग्निहोत्रं हुतं भवति, तस्मान्मा ते तव ब्राह्मी ब्रह्मविषया विद्या लघुतां मर्त्यभावं कर्मवदादधीत न करोतु, अपि तु प्रज्ञानं तमसः परं परमात्मानमात्मत्वेन सम्पादयतु। यदा ब्रह्मविद्याव्यापृतस्य परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छतः प्रज्ञानमिति नाम स्तात्, ब्रह्मेति नाम भवतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति। तत्प्रज्ञानं ब्रह्म धीरा धीमन्तो लभन्ते, तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १७ ॥

किं च—

एवंरूपो महानात्मा पावकं पुरुषो गिरन्।
यो वै तं पुरुषं वेद तस्येहात्मा न रिष्यते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १८ ॥

य एवंरूपः प्रज्ञानैकरसब्रह्मस्वरूपः सन्नास्ते, स आत्मा महान् सम्पद्यते ब्रह्मैव सम्पद्यत इत्यर्थः। पावकमग्निं सर्वोपसंहृतिरूपं कारणं सकारणं कार्यं

कर्म है, उसका फल इसी आत्मज्ञान द्वारा सम्पादित हो जाता है। जिससे लोक और परलोक ब्रह्मविद्यासे अधिकृत कर यहाँसे प्रस्थान करता है; क्योंकि हवन न किया हुआ भी अग्निहोत्र कर्म हुत हो जाता है। इसलिए तुम्हारे लिए ब्राह्मी—ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली विद्या कर्मकी भाँति लघुता अर्थात् मर्त्यभावको प्राप्त न हो। किन्तु प्रज्ञान—अज्ञानतमसे अतीत आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करानेमें सहयोगी हो; इसलिए कि ब्रह्मविद्या व्यापृत परमात्माको आत्मभावसे ग्रहण करनेवाले व्यक्तिका प्रज्ञान नाम प्रसिद्ध है। आशय यह है कि उसकी ब्रह्म संज्ञा है। ऐसा ही भगवती श्रुतिका कथन है कि—'प्रज्ञान ब्रह्म है।' इस प्रज्ञानघन ब्रह्मका साक्षात्कार धीर-पुरुष ही करते हैं, योगी लोग उस सनातन परमात्माका ध्यान करते हैं ॥१७॥

इस प्रकार ब्रह्मात्मभावको प्राप्त होकर जो विद्वज्जन जीवरूप अग्निको अपने आत्मस्वरूपमें समाहित करता हुआ यथार्थरूपसे उस सनातन पुरुषका दर्शन करता है उसकी आत्मा इस शरीरमें विनाशधर्मको प्राप्त नहीं करती है, योगी लोग उस सनातन परमात्माका ध्यान करते हैं ॥१८॥

इस प्रकार जो प्रज्ञानघन एकरस ब्रह्मस्वरूपमें समाहित होकर सर्वत्र विद्यमान रहता है। भावार्थ यह है कि वह आत्मा महान् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है; इसलिए कि पावक अग्नि-सर्वोपहृतिरूप कारण अर्थात् कारण अपने सारे

गिरन् स्वात्मन्युपसंहरन् यो वै तं पुरुषं ज्ञानैकरसं पुरुषं पूर्णं पुरिशयं वेद अयमहमस्मीति साक्षाज्जानीति, तस्य प्रज्ञानरूपं परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छत इहास्मिन्नेव देहे आत्मा न रिष्यते न विनश्यति। विदुष उत्क्रान्तेरभावात्, उत्क्रान्तिनिमित्तत्वाद्विनाशस्य। तथा च श्रुतिः प्रश्नपूर्वकमुत्क्रान्त्यभावं दर्शयति—'उदस्मात्प्राणा उत्क्रामन्तीति आहो नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यः, अत्रैव समवलीयन्ते न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेद' इति च। यं विदित्वा न रिष्यते तं योगिन एव पश्यन्ति ॥१८॥

यस्मात्तद्विज्ञानादेव नात्मनो विनाशः—

तस्मात्सदा सत्कृतः स्यान्न मृत्युरमृतं कुतः।
सत्यानृते सत्यसमानुबन्धिनी सतश्च योनिरसतश्चैक एव।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥१९॥

कार्यवर्ग मासहित को अपनेमें माहित करता हुआ यह जो कोई विद्वान् पुरुष परमार्थरूपसे उस पुरुष--प्रसानघन ब्रह्मको परिपूर्णानन्दमय पुरुष अर्थात् अपने अपने शरीरमें विद्यमान आत्माको यही 'मैं हूँ' इस प्रकार अपरोक्षरूपसे जानता है, प्रज्ञानघन परमात्माको अपने आत्मस्वरूपसे ज्ञान प्राप्त करनेवाले उस पुरुषका आत्मा इस शरीरमें विनष्ट नहीं हो सकता है; इसलिए कि ज्ञानी पुरुषका प्राणोत्क्रमण नहीं होता है और उसका विनाशभाव तो मात्र लोकान्तरमें उत्क्रमण करने के निमित्त ही होता है। तथा श्रुति भी प्रश्नपूर्वक उत्क्रमणका न होना ही प्रदर्शित करती है, इस ज्ञानी पुरुषके प्राणोत्क्रमण होते हैं अथवा नहीं होते। याज्ञवल्क्यमुनिने कहा कि उस ज्ञानीके प्राणोत्क्रमण नहीं होते हैं; क्योंकि यहीं उसके प्राण विलीन हो जाते हैं। अत एव उसका प्राणोक्रमण नहीं होते हैं जो उस प्रक्रियापूर्वक उसे साक्षात् जान लेता है, वह ब्रह्मस्वरूप हुआ ब्रह्मभावमें हो विलीन हो जाता है, जिस परमात्माका साक्षात्कार कर आत्माका कदापि विनाश नहीं होता है योगो लोग उस सनातन देवका ध्यान करते हैं ॥१८॥

इसीलिए कि उसके विज्ञानसे ही आत्माका विनाश नहीं होता है—

अत एव निरन्तर चिद्रूपमें ही स्थिर रहे, ऐसी स्थितिमें जब मृत्यु ही नहीं है, तो अमृत कहाँसे आ जावेगा; क्योंकि सत्य और असत्य ये दोनों ही ब्रह्ममें समानतया हो रहते हैं और इन दोनोंके कारण भी सद्रूप ब्रह्म ही है, योगी लोग उस सनातन परमात्माका दर्शन करते हैं ॥१९॥

सदा सर्वदाहर्निशं सत्कृतः स्मात् सच्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनाभिमन्येत यः, स सदा सत्कृतो भवति। तस्य न मृत्युः—जननमरणलक्षणः संसारो न भवेत्। अमृतं कुतः, मृत्युसापेक्षत्वादमृतत्वस्य तदभावे कुतः प्रसक्तिः। तथा च श्रुतिः—'मृत्युर्नास्त्यमृतं कुतः' इति।

सत्यानृते च वर्तेतेसत्यसमानुबन्धिनी परमार्थसत्यमेकमधिष्ठानमनुबध्य वर्तेते रज्ज्वामिव सर्पः। कथमेतदवगम्यते सत्यानृते सत्यसमानुबन्धिनीति? तत्राह—सतश्च लौकिकस्य योनिः कारणम् असतश्च व्यावहारिकस्य रजतादेः, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म यस्मात् प्रवदन्ति तस्मात्सत्यानृते स्वकारणभूतसत्यसमानुबन्धिनीति। यदात्मतत्त्वज्ञानात्मकारणान्मृत्योर्विनाशः, यमनुबध्य सत्यानृते प्रवर्तेते तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १९ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा न दृश्यतेऽसौ हृदये निविष्टः।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥२०॥

इसलिए नित्य-निरन्तर अहर्निश सत्कर्म करता हुआ जीवन जीता रहे और जो सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म से अपने आपको अभिन्न समझता है वह सदा सत्कृत हो जाता है, उसकी मृत्यु नहीं होती अर्थात् वह जन्म-मरणरूप संसारधर्मको प्राप्त नहीं होता है। ऐसी स्थितिमें अमृतत्व कहाँ है; जबकि अमृतत्व तो मृत्युको लेकर है और जब मृत्यु ही नहीं है, तो फिर उसके अभावमें अमृतत्त्वका प्रसङ्ग ही नहीं उठता है। भगवती श्रुति इस विषयमें कहती है कि—'जब मृत्यु ही नहीं है तो फिरअमृतत्व कहाँ से होगा ?'

सत्य और असत्य ये दोनों ही पदार्थ समानरूपसे सद्वस्तुके अधीन हैं अर्थात् सत्य और असत्य ये दोनों रज्जुमें सर्पकी भाँति एक परमार्थ सद्रूप अधिष्ठानके आश्रित होकर रहते हैं। यह कैसे ज्ञात हो सकता है कि—सत्य और असत्य ये दोनों समानतया एक सद्रूप अधिष्ठानके आश्रित होकर स्थित हैं? इसका उत्तर देते हैं कि—सत्य लौकिक वस्तुओंका कारण है : जबकि ये सबके सब एक ही अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करते हैं, इसलिए अपने कारणभूत सद्रूप वस्तुके आश्रित होकर सत्य और असत्य समानरूपसे परस्पर बँधे हुए हैं। जिस आत्मतत्त्वके ज्ञानप्रकाशके कारण मृत्युका भी विनाश हा जाता है जिसका आश्रय लेकर सत्य और असत्य प्रवृत्त होते हैं। योगी लोग उस सनातन परमात्माका दर्शन करते हैं ॥१९॥

आकाशादिदेहान्तं जगत् सृष्ट्वा हृदये निविष्टः अजः चरः चराचरात्मा सन्न दृश्यते स्वेनात्मना चित्सदानन्दाद्वितीयेन। तम् अहोरात्रम् अतन्द्रित भूत्वान्नादिकोशपञ्चकेभ्यो निष्क्रम्य सर्वान्तरात्मानं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नो कृतार्थः सन्नित्यर्थः ॥ २० ॥

ब्रह्मणो विश्वोपादानत्वमाह—

तस्माच्च वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रलयस्तथा।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्माच्च प्राण आगतः ॥ २१ ॥
तत्प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद् ब्रह्म तद्यशः।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र च ॥ २२ ॥

श्लोकौ स्पष्टौ ॥ २१-२२ ॥

सर्वमिदं ब्रह्मणः सकाशादुद्भूतं तत्रैव लीयत इत्युक्तं तदेव विवृणोति—:

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष अजन्मा चराचरात्मक विश्वरूप है और सभीके हृदय-देशमें विद्यमान है फिर भी वह प्रत्यक्षका विषय नहीं हो पाता है, तत्त्ववेत्ता पुरुष अहर्निश तत्परतापूर्वक उसका अनुभव कर कृतार्थ हो जाता है ॥२०॥

वह अजन्मा अविनाशी परमब्रह्म परमात्मा स्थावर-जङ्गमात्मक विश्व-का आकाशादि तत्त्वसे लेकर शरीरपर्यन्त सृजन कर सभी प्राणियोंके हृदय-कमलमें संनिविष्ट हुआ सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मभावसे दृष्टिगोचर नहीं हो पाता है। अतन्द्रित होकर अहर्निश अन्नादिरूप पञ्चकोशोंसे पृथक्करण कर उसे सबका आत्मस्वरूप मान करके क्रान्तदर्शी विद्वान् प्रसन्न-कृतकृत्य हो जाता है ॥२०॥

सम्प्रति ब्रह्मका जगत् उपादानकारण प्रदर्शित किया जाता है—

उस परमात्मासे अग्नि, चन्द्रमा और प्राण आदिकी उत्पत्ति हुई है और वही समस्त वस्तुओंका आधार स्तम्भ भी है तथा वही अमृत, ब्रह्म एवं सभी लोकोंका आश्रयस्थान भी है और वही यशस्वरूप है। इसीसे सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंकी सृष्टि होती है और पुनः उसी परमतत्त्वमें विलय भी हो जाता है ॥ २१-२२ ॥

श्लोकका अर्थ स्पष्ट ही है ॥ २१-३२ ॥

यह सारा प्रपञ्च परमब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है और उसीमें विलय भी हो जाता है। यह जो कहा गया है उसीका वर्णन किया जा रहा है—

उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च दिशश्च शुक्लं भुवनं बिभर्ति ।
तस्माद् दिशः सरितश्च स्रवन्ति तस्मात् समुद्रा विहिता महान्तः ॥२३॥

देवौ जीवेश्वरौ शुक्लं ब्रह्म कर्तृ बिभर्ति । तस्माद् ब्रह्मणः सकाशाद् दिश उत्पद्यन्ते 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इति श्रुतेरर्थः प्रतिपादितः ॥ २३ ॥

इदानीं ब्रह्मणोऽनन्तत्वं कथयति—

यः सहस्रं सहस्राणां पक्षानाहृत्य सम्पतेत् ।
नान्तं गच्छेत् कारणस्य यद्यपि स्यान्मनोजवः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २४ ॥

यः पुरुषः सहस्राणां सहस्रं पक्षानाहृत्यात्मनः पक्षान् कृत्वा सम्पतेदशकुनेः कोटिकल्पमपि पुरुषो नान्तं गच्छेत् सर्वकारणस्य परमात्मनः, यद्यप्यसौ

वह निर्दोष ब्रह्म ही जीव एवं ईश्वररूप देवोंको, पृथिवी, दिशाओंको, और सारे भुवनोंको धारण पोषण किये हुए हैं। उसीसे दिशाएं और सरिताएं प्रवाहित होती हैं उससे महान् सागर की गरिमा भी है ॥२३॥

शुक्ल-ब्रह्म जो समस्त विश्वका कर्ता है वह जीव और ईश्वर दोनों देवोंका पालन पोषण करता है। उस परमब्रह्मसे ही ये दिशाएँ उत्पन्न हुई हैं। हे गार्गि ! इस अक्षर परमात्माके प्रशासनमें ही सूर्य और चन्द्रमा धारण किये हुए अवस्थित हैं। इस प्रकार भगवती श्रुतिका अर्थ प्रतिपादित किया है ॥२३॥

सम्प्रति परमब्रह्मतत्त्वकी अनन्तरूपताको प्रदर्शित किया जा रहा है—

जो कोई सहस्र पंखोंको ग्रहण कर उड़े और मनकी गति से भी पार करना चाहे तो भी कारणरूप ब्रह्मका पार नहीं पा सकेगा। योगी लोग उस सनातन ॥२४॥

जो कोई व्यक्ति अपरिमित पंखोको ग्रहण कर अर्थात् अपने शरीरमें सहस्र पंखें लगा कर अनेक प्रकारसे कोटिकल्पपर्यन्त भी उड़े तो भी वह सबके कारणभूत परमात्माका पार नहीं पा सकता है। यद्यपि वह मनके समान गतिवाला हो कर भी उड़ना चाहे तो भी उस परमात्माका पार नहीं पा सकेगा। भावार्थ यह है कि जिससे कोई भी व्यक्ति उसका अन्त नहीं पा सकता है इसीसे वह

मनोजवः स्यात् तथापि तस्यान्तं न गच्छेत् । यस्मादन्तं न गच्छेत् तस्मादनन्तः परमात्मेत्यर्थः । योऽनन्तः परमात्मा तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ २४ ॥

किंच—

अदर्शने तिष्ठति रूपमस्य पश्यन्ति चैनं सुसमिद्धसत्त्वाः ।
हीनो मनीषी मनसाभिपश्येद् य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२५॥

अर्दशने दर्शनायोग्यविषये तिष्ठति रूपमस्य परमात्मनः । तथा च श्रुतिः—'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य' इति । पश्यन्ति चैनं सुसमिद्धसत्त्वाः । यद्यपि दर्शनायोग्ये तिष्ठति तथापि परमात्मानं पश्यन्ति । के ते ? सुसमिद्ध-सत्त्वाः सुष्ठु समिद्धं सम्यग्दीप्तं सत्त्वमन्तःकरणं यज्ञादिभिर्विमलीकरण संस्कारेण येषां ते सुसमिद्धसत्त्वाः ।

यस्मादेवं तस्माद्धीनो रागद्वेषादिमलरहितो विशुद्धसत्त्वो मनीषी मनसाभिपश्येत् । य एनं परमात्मानं विदुरहमस्मीति अमृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥ २५ ॥

अनन्त परमात्मा है । इस प्रकार जो अनन्न परमात्मा है, योगी लोग उसका दर्शन करते हैं ॥२४॥

तथा—

इसका रूप देखनेमें नहीं आता अर्थात् दृष्टिका विषय नहीं हो पाता है । परन्तु विशुद्ध चित्तवाले हो इसका दर्शन करते हैं इसलिए दोषसे रहित मनीषो मनसे देख लेता है और जो इसे जानते हैं, वे विमुक्त हो जाते हैं ॥२५॥

इस परमात्माका रूप दर्शनका विषय नहीं हो सकता है । तथा भगवती श्रुतिका भी यही कथन है कि—'इसका स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं हो पाता है ।' किन्तु विशुद्ध अन्तःकरणवाले ही देख पाते हैं । यद्यपि इसका स्वरूप दर्शनके अयोग्य है तो भी परमात्माका साक्षात्कार कर लेते हैं । वे कौन है ? जिनका चित्त यज्ञादि संस्कारोंके द्वारा विशुद्ध हो गया है तथा अन्तःकरण भली-भाँति प्रदीप्त है ऐसे सुसमिद्धसत्त्व लोग ही इस परमतत्त्वका अन्तःकरणमें दर्शन करते हैं ।

जबकि इस प्रकार है इसलिए हीन-जो रागद्वेषादि मलसे रहित विशुद्ध अन्तःकरण हुआ यह विवेकी पुरुष मनसे देख सकता है । जो व्यक्ति इस ब्रह्म तत्त्वको 'यह मैं हूँ' ऐसा जानते हैं, वे अमृत अर्थात् अमरणधर्मा हो जाते हैं ॥२५॥

इमं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति ।
अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु स किं शोचेत्ततः परम् ॥ २६ ॥

इमं सर्वान्तरं सर्वभूतेषु सर्वप्राणिष्वात्मानं योऽनु पश्यति । कथंभूतेष्वनुपश्यति—अन्यत्रान्यत्र देहेन्द्रियादियुक्तेषु शरीराद्यभिमानिषु स किं शोचेत्ततः परं सर्वभूतेषु स्वात्मानं पश्यन् ततः परं किमर्थमनुशोचति सर्वभूतस्थमात्मानमनुपश्यन् कृतार्थत्वान्नानुशोचतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति ॥ २६ ॥

तदेवाह—

यथोदपाने महति सर्वतःसम्प्लुतोदके ।
एवं सर्वेषु भूतेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ २७ ॥

यथा सर्वतःसम्प्लुतोदके महत्युदपाने कृतकृत्यस्य पुंसोऽर्थो नास्ति, एवं

जो विवेकी पुरुष शरीरेन्द्रियोंसे युक्त सभी भूतप्राणियोंमें इस आत्मको अनुगत प्रतीतिसे देखता है, वह उससे उत्तम किस वस्तुकी चिन्ता करेगा ॥२६॥

जो सबके भीतर अर्थात् सभी भूतप्राणियोंमें इस आत्माको अनुगत देखता है । प्राणियोंमें कैसे देखता है ?

अन्यान्य शरीरेन्द्रियादिसे युक्त क्षणभङ्गुर देहादि वस्तुओंमें मिथ्या अभिमान करनेवाले प्राणियोंमें वह क्यों शोक करेगा ? अर्थात् सभी भूतप्राणियोंमें अपने आत्मस्वरूपका दर्शन करता हुआ वह किस लिए शोक करेगा ? भावार्थ यह है कि समस्त स्थावर-जङ्गम पदार्थों में स्थित अपने आत्माका दर्शन करता हुआ वह विवेकी पुरुष कृतकृत्य हो गया है इसलिए वह किसी भी स्थितिमें शोक नहीं करता है । ऐसा ही भगवती श्रुतिका कथन है कि—उस समय समस्त जडचेतन वस्तुओंमें एकत्व देखनेवाले व्यक्तिको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है' ॥२६॥

इसी विषयमें कहते हैं कि—

जैसे व्यक्तिको चारों ओर जलसे परिपूर्ण सरोवरके रहते हुए किसी अल्प जलवाले सरोवरकी अपेक्षा नहीं रह जाती है वैसे सभी प्राणियोंमें आत्म-दर्शन देखनेवाले ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तिको भी किसी अन्यसे अपेक्षा नहीं रहती है ॥२७॥

जैसे चारों ओर जलसे परिपूर्ण हुए महान् जलाशयके विद्यमान रहने

सर्वेषु भूतेषु आत्मानं विजानतो ब्राह्मणस्य किंचिदपि प्रयोजनं न विद्यत इत्यर्थः। आत्मदर्शनेनैव कृतार्थत्वादिति भावः। तथा चाह भगवान् वासुदेवः—'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः' इति ॥ २७ ॥

इदानीमुक्तस्यार्थस्य द्रढिम्ने वामदेवादिवत् स्वानुभवं दर्शयति—

अहमेवास्मि वो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः।
आत्माहमस्य सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च ॥ २८ ॥

हे धृतराष्ट्र! अहमेवास्मि वो युष्माकं माता जनयित्री पिता अपि अहमेव। युष्माकं पुत्रो दुर्योधनादिरहमस्मि। किंबहुना? आत्मा अहमस्मि सर्वस्य प्राणिजातस्य यच्च नास्ति यदस्ति च तस्याहमेवात्मा ॥ २८ ॥

एवं तावदाधिभौतिकं पित्रादिकं दर्शितम्। अथेदानीमाधिदैविकं पित्रादिभावं दर्शयति—

पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत।
ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न चाप्यहम् ॥ २९ ॥

पर कृतार्थ हुए व्यक्तिको प्रयोजन नहीं रहता है। भावार्थ यह है कि समस्त भूत-प्राणियोंमें अपने आत्मस्वरूपका दर्शन करनेवाले ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणके लिए किञ्चित् भी प्रयोजन नहीं रह जाता है। इसलिए कि वह ब्रह्मनिष्ठ आत्मदर्शन से ही कृतार्थ हो जाता है यही इसका तात्पर्यार्थ है। और ऐसा ही भगवद्गीता में भगवान् श्री वासुदेवने कहा है कि—'और इसका सभी प्राणियोंमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता है ॥२७॥

सम्प्रति पूर्वोक्त अर्थकी दृढताके लिए वामदेवादिकी भाँति अपने अनुभवको दिखाया जाता है—मैं ही तुम्हारा माता-पिता हूँ और मैं ही पुत्र हूँ। यह जो कुछ है और जो कुछ नहीं भी है, उस सब का मैं ही आत्मा हूँ ॥२८॥

हे धृतराष्ट्र! मैं ही तुम्हारी जन्म देनेवाली माता हूँ और मैं ही तुम्हारा पिता भी हूँ। तथा मैं ही तुम्हारा पुत्र दुर्योधनादि भी हूँ। इस विषयमें अधिक क्या कहा जाय? मैं ही समस्त भूतप्राणियोंकी आत्मा हूँ यह जो कुछ विद्यमान है और जो कुछ नहीं भी है, उस सबका मैं ही आत्मा हूँ ॥ २८ ॥

इस प्रकार सर्वप्रथम आधिभौतिक पितादिके विषयमें वर्णन कर दिया गया, इसके पश्चात् सम्प्रति आधिदैविक पित्रादिभाव प्रदर्शित किया जाता है—

पितामहोऽस्मि स्थविरो वृद्धः, इन्द्रादेः पितामहोऽस्मि अनादिसिद्धः परमात्मा सोऽप्यहमेव। यः पिता इन्द्रादेर्हिरण्यगर्भः सोऽप्यहमेव। तथा ममैव यूयम् आत्मस्थाः। एवं यूयं सर्वे परमार्थतो न मे आत्मनि व्यवस्थिताः, न चाप्यहं युष्मासु स्थितः। तथा चाह भगवान्—'मत्स्थानि सर्वभूतानि' इति॥ २९॥

यद्यपि न ममात्मनि यूयं व्यवस्थिताः, न चाप्यहं युष्मासु स्थितः, तथापि—

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः॥३०॥

आत्मैव स्थानम् आत्मैवाश्रयः, जन्म चात्मा अस्मादेवात्मनः सर्वमुत्पन्नम्। तथा च श्रुतिः—'आत्मन एवेदं सर्वम्' इति। ओतप्रोतोऽहमेव

हे भारत! मैं ही वृद्ध पितामह, पिता और पुत्र हूँ। तुम सब मेरे ही आत्मस्वरूपमें स्थित हो और न तुम सब मेरे में हो एवं न मैं तुम सबमें हूँ॥ २९॥

मैं स्थविर अर्थात् वृद्ध पितामह हूँ, मैं ही इन्द्रादि देवोंका भी पितामह हूँ और जो अनादि परमात्मा है वह भी मैं ही हूँ। जो इन्द्रादि पिता हिरण्यगर्भ है वह भी मैं ही हूँ। तथा तुम सब मेरे आत्मस्वरूपमें स्थित हो। यद्यपि परमार्थरूपसे तुम सब मेरे आत्मस्वरूपमें भी नहीं रहते हो। ऐसा ही भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गीताशास्त्रमें कहा गया है—'समस्त भूतप्राणी मेरे ही आत्मस्वरूपमें रहते हैं।। २९॥

जो कि मेरे आत्मस्वरूपमें तुम सब नहीं रहते हो और न मैं ही तुम सबोंमें रहता हूँ, तो भी—आत्मा ही मेरा अधिष्ठान है और आत्मा ही मेरा जन्म भी है। मैं ही जरा-मरणसे रहित सबमें व्याप्त हूँ। मैं अहर्निश अतन्द्रित होकर अविनाशी एवं गतिशील हूँ, मुझे जान करके ज्ञानी प्रसन्नचित्त हो जाता है॥ ३०॥

आत्मा ही मेरा स्थान अर्थात् आश्रय है एवं आत्मा ही मेरा जन्म भी है, इसलिए कि सभी भूत-प्राणियोंका जन्म आत्मा ही होता है। ऐसा ही भगवती श्रुतिका कथन है कि 'आत्माका ही यह सारा विस्तार है।' मैं ही समस्त संसारमें ओतप्रोत होकर स्थित हूँ अर्थात् मैं ही सबमें ओतप्रोतरूपसे व्यवस्थित जगदात्मा हूँ। तुम सबका जनयिता मैं अजर प्रतिष्ठित जरामरणसे रहित अपनी महान् महिमामें स्थित हूँ, इसीसे मैं अजर प्रतिष्ठित हूँ। ऐसा ही

ओतप्रोतरूपेण व्यवस्थितो जगदात्मा युष्माकं जनयिता अजरप्रतिष्ठोऽजरे जरा-मरणवर्जिते स्वे महिम्नि तिष्ठामीत्यजरप्रतिष्ठः। तथा च श्रुतिः—'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इति ॥ ३० ॥

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेष्ववस्थितः।
पितरं सर्वभूतानां पुष्करे निहितं विदुः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि
धृतराष्ट्रसनत्कुमारसंवादे श्रीसनत्सुजातीये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अणोः सूक्ष्मादणीयान् सूक्ष्मतरः सुमनाः शोभनं रागद्वेषमदमात्सर्यशोक-मोहादिधर्मवर्जितं केवलं चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्माकारं मनो यस्य स सुमना सर्वभूतेषु सर्वेषु प्राणिषु हृदयकमलमध्ये अहमेवावस्थितः सर्वभूतात्मतया।

एवं तावत्स्वानुभवो दर्शितः, इदानीं न केवलमस्मदनुभव एवात्र प्रमाणम्, अन्येऽप्येवमेवावगच्छन्तीत्याह--पितरं सर्वभूतानां पुष्करे निहितं विदुरिति। येऽन्ये सनकसनन्दनसनातनवामदेवादयो ब्रह्मविदस्तेऽपि पितरं सर्व-भूतानां सर्वप्राणिनां पिता जनयिता यः परमेश्वरस्तं पुष्करे हृत्पुण्डरीकमध्ये निहितं विदुः; परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छन्तीत्यर्थः।

श्रुतिवाक्यका भी कहना है हे भगवन्! वह किसमें प्रतिष्ठित है? ऐसा कहने पर उत्तर दिया जाता है कि वह अपनी महिमामें अवस्थित है ॥ ३० ॥

मैं ही अणुसे भी अणुतर हूँ, विशुद्ध चित्त वाला हूँ और सभी प्राणियोंमें स्थित हूँ। समस्त प्राणियोंके पिताको विद्वज्जन हृदयमें कमलमें स्थित जानते हैं ॥ ३१ ॥

परमात्माका स्वरूप अणुसे भी अणुतर है, जिसका मन-शोभन अर्थात् राग, द्वेष, मद, मात्सर्य, शोक एवं मोहादि अनित्य धर्मोंसे रहित है और सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मभावमें स्थित रहता है वह व्यक्ति सुमना कहलाता है तथा मैं ही समस्त प्राणियोंके हृदयदेशमें सर्वभूतात्मरूपसे स्थित हूँ।

इस प्रकार सर्वप्रथम अपना अनुभव प्रदर्शित कर दिया गया, इस विषयमें हमारा अनुभव ही प्रमाण नहीं है अपितु अन्य विद्वज्जनोंका भी यही कहना है कि—समस्त भूतप्राणियोंके पिताको हृदयकमलमें निहित जानते हैं। जो ये लोग सनक, सनन्दन, सनातन और वामदेव आदि ब्रह्मवेत्ता पुरुष हैं वे भी समस्त प्राणियोंके जन्म देनेवाले पिता हैं जो परमेश्वरके रूपमें है उसे हृदयकमलमें निहित जानते हैं। आशय यह है कि वे लोग परमब्रह्म परमात्मा को आत्मरूपसे जानते हैं।

तथा च श्रुतिस्तेषामनुभवं दर्शयति-- तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' इति बृहदारण्यके। 'एतत्साम गायन्नास्ते' इति तैत्तिरीयके सामगानेन स्वानुभवो दर्शितः, आत्मनः कृतार्थत्वद्योतनार्थम्। तथा छान्दोग्येऽपि— 'तद्धास्य विजज्ञौ' इति। तलवकारे च 'अहमन्नम्' इत्यादिना विदुषः स्वानुभवो दर्शितः।

तत्रैते श्लोकाः भवन्ति—

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तभावमीशमात्मना ।
भावयन् षडिन्द्रियाणि सनियम्य निश्चलः ॥
अस्ति वस्तु चिद्घनं जगत्प्रसूतिकारणम्।
न नश्वरं तदुद्भवं जगत्तमोनुदं च यत् ॥
तत्पदैकवाचकं सदामृतं निरञ्जनम्।
चित्तवृत्तिदृक् सुखं तदस्म्यहं तदस्म्यहम् ॥ इति ॥ ३१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ श्रीसनत्सुजातीय भाष्ये चतुर्थोध्यायः ॥ ४ ॥

तथा भगवती श्रुति उन लोगोंका अनुभव प्रदर्शित करती है। 'उस इस आत्मतत्त्वका दर्शन करते हुए वामदेव ऋषिने कहा कि मैं ही मनु हुआ था और मैं ही सूर्य भी था।' 'इस सामका गान करता हुआ रहता है।' इस तैत्तिरीय श्रुतिवाक्यमें सामगानके माध्यमसे स्वकीय कृतार्थताके ज्ञापनार्थं अपना अनुभव प्रदर्शित किया है। ऐसा छान्दोग्य उपनिषद्में कहा है कि— उसने इस आत्माका बोध प्राप्त कर लिया है।' और यही केन उपनिषद्में भी दिखलाया है—'मैं ही अन्न हूँ' इत्यादि वाक्यसे विद्वान् पुरुषका अपना अनुभव प्रदर्शित किया है।

इस विषयमें ये श्लोक भी प्रमाणरूपमें विद्यमान हैं—

'नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव परमेश्वरका आत्मभावसे स्मरण करता हुआ मन सहित पञ्चज्ञानेन्द्रियोंका संयम कर निश्चलस्वरूपमें स्थित है कोई सच्चिदानन्दघन वस्तु है जो जगत्को उत्पत्तिका कारण है उससे उत्पन्न हुआ यह नश्वर संसार अज्ञानतमको दूर करनेमें समर्थ नहीं है। जिसका 'तत्' पद एकमात्र द्योतक है और जो आनन्द, सद्रूप, अमृत, त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे अतीत एवं चित्तवृत्तिका द्रष्टा है, वही मैं ही हूँ ॥ ३१ ॥

इति आचार्यश्रीकृष्णानन्द सागर विरचिता चतुर्थोऽध्याय हिन्दोव्याख्या श्रुतिरञ्जनी।